विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक

रामसिंह तोमर

खण्ड ८
अंक १

आश्विन-मार्गशीर्ष, २०२४
अक्टूबर-दिसंबर, १९६७

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्यः नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येनाभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

विज्ञापन-दर

साधारण पृष्ठ	एक वर्ष (चार अंकों) का	एक अंक का
एक पृष्ठ	४००)	१२०)
आधा पृष्ठ	२००)	७०)
चौथाई पृष्ठ	१६०)	६०)
विशेष पृष्ठ	१०% अतिरिक्त	
आवरण पृष्ठ		
आवरण दूसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण तीसरा पृष्ठ	५२०)	१६०)
आवरण चौथा पृष्ठ	७२०)	२२०)

पत्र-व्यवहार का पता :

संपादक,
विश्वभारती पत्रिका,
हिंदी-भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।
टेलिफोन, बोलपुर, २१-एक्सटेंशन ३९।

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२४ खण्ड ८, अंक ३ अक्टूबर-दिसंबर १९६७

विषय-सूची

सूचना—पृष्ठ संख्या ३१२ से ३३४ तक क्रमशः २१२ से २३४ छपनी चाहिए थी।

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रमसे)

गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र, अध्यापक, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, देशप्रसिद्ध विद्वान्, काशी।

द्विजराम यादव, रिसर्च स्कालर, हिन्दीभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

बापचन्द्र महन्त, गौहाटी, असम।

मञ्जुल मयङ्क पन्तुल, अध्यापक, संस्कृत विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

माता प्रसाद गुप्त, निदेशक, क० मा० मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा

राजदेव सिंह, अध्यापक, स्नातकोत्तर प्रादेशिक हिंदी केंद्र, पंजाब विश्वविद्यालय, रोहतक।

रामकृष्ण द्विवेदी, अध्यापक, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दीभवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

पथिक

शिल्पी—नंदलाल बसु

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२४ खण्ड ८, अंक ३ अक्टूबर-दिसंबर १९६७

पगडंडी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यही तो पगडंडी है।

वन में से होकर आई है मैदान में मैदान को पार करती हुई नदी के किनारे, खेयाघाट के पास वटवृक्ष के नीचे। उसके बाद उस किनारे भाङ्गा-घाट से टेढ़ी चली गई है गाँव के बीच में, उसके बाद तीसी के खेतों के किनारे किनारे, आम के बगीचे की छाया में होकर पद्मतड़ाग की पाड़ पर से, रथतला के पास से जाकर किस गाँव में पहुँची है पता नहीं।

इस पथ पर कितने मनुष्य कोई कोई तो मेरे पास होकर चले गए हैं, कोई कोई संग लिए हुए, कोई दूर जाता हुआ दिखा ; किसी के घूँघट पड़ा हुआ है, किसी के नहीं है ; कोई पानी भरने जा रहा है, कोई पानी भर कर लौट आया।

२

अब दिन समाप्त हो गया, अन्धकार हो चला।

एक दिन इस पथ के विषय में मन में आया था कि मेरा ही है, एकान्त रूप से मेरा ; अब देखता हूँ, केवल मात्र एकबार इस पथ पर चलने का हुकम लेकर आया हूँ, और नहीं।

नेबूतला पारकर वही तालाब की पाड़, द्वादश देवालय का घाट, नदी का चर, ग्वालों के घर, धान के गोलों[1] को पार करके वह परिचित चितवन, परिचित बातचीत, परिचित चेहरों के बीच और एकबार भी लौटकर नहीं कह सकूँगा, "यह है!" यह पथ तो चलने का पथ है, लौटने का पथ नहीं है। आज धूसर सन्ध्या में एकबार पीछे मुड़कर ताका ; देखा, यह पथ अनेक विस्मृत पदचिह्नों की पदावली है, भैरवी के सुर में बँधी।

---

१. धान संग्रह करके रखने के लिए पुआल का बना गोलाकार भण्डार।

इतने काल में जितने पथिक चले गए हैं उनके जीवन की सम्पूर्ण कहानी को यह पथ अपनी मात्र एक धूलिरेखा में संक्षिप्त रूप में अंकित किए हुए है ; वह एक रेखा सूर्योदय की ओर से सूर्यास्त की ओर जा रही है, सोने के एक सिंहद्वार से सोने के एक और सिंहद्वार की ओर।

३

"ओ पगडंडी, अनेक कालों की नाना बातों को अपने धूलिबन्धन में बाँधे हुए नीरव मत बनाए रखो। मैं तुम्हारी धूल को ओर कान लगाए हुए हूँ, मुझसे कान में कहो।"

पथ निशीथ के काले पर्दे की ओर तर्जनी दिखाकर चुप रहता है। "ओ पगडंडी, इतने पथिकों की इतनी भावनाएँ, इतनी इच्छाएँ, वे सब कहाँ गईं।"

गूँगा पथ बात नहीं करता। केवल सूर्योदय की दिशा से सूर्यास्त की ओर इशारा करता रहता है।

"ओ पगडंडी, तुम्हारी छाती के ऊपर एकदिन पुष्पवृष्टि के समान जो समस्त चरणपात हुए थे आज वे क्या कहीं नहीं है।"

पथ क्या अपने अंत को जानता है, जहाँ लुप्त फूल और स्तब्ध गान पहुँचता है, जहाँ तारागणों के आलोक में अनिर्वाण वेदना का दीपोत्सव है।

अनु०—रा० तो०

जीव का आविर्भाव और पूर्णत्वलाभ—शाक्त दृष्टि

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

(१)

अन्यान्य धर्मों की भाँति शाक्त धर्म का भी एक अन्तरङ्ग और एक बहिरङ्ग पक्ष है, एवं इन दोनों के अन्तराल में एक मध्यविभाग भी है। केवल इतना ही नहीं, जो साधना के नाम से परिचित है वह प्रत्येक पक्ष में ही है। अन्तरंग साधना में जिस प्रकार साधक और साध्य है, बहिरङ्ग साधना में भी उसी प्रकार साधक और साध्य है। स्वभावमूलक अधिकार के अनुसार साधना का पथ निर्दिष्ट होता है। इसलिए साधक-मात्र ही पथिक है, किन्तु सभी का पथ एक प्रकार का नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में प्राकृतिक नियम से दृष्टिगत वैचित्र्य लक्षित होता है। इसलिए अन्तरङ्ग साधना में भी जैसे प्रकारगत भेद हैं, बहिरङ्ग साधना में भी वैसे ही हैं। इसका मूल कारण *'रुचीनां वैचित्र्यात्'*—मनुष्य का रुचिगत वैचित्र्य है। इसलिए प्रकृतिभेद से लक्ष्यगत भेद भी होता है, एवं मार्ग-गत भेद भी होता है। किन्तु रुचि-निरपेक्ष अखण्ड दृष्टि से देखने जाएँ तो कहना होगा कि परमार्थतः लक्ष्य एक के सिवा दूसरा नहीं है। किन्तु सामर्थ्यभेद के अनुसार रुचि का और अधिकार का भेद होता है, और इसीलिये पथ भी नाना रूप से प्रतिभात होता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हम अन्तरङ्ग शक्ति के एक प्रकार की बात कहना चाहते हैं।

सर्वप्रथम लक्ष्य अथवा महाशक्ति का स्वरूप विवेच्य है। इस स्वरूप को दो दिशायें हैं एक दिशा से देखने पर यह परम प्रकाशमय निरपेक्ष आत्मस्वरूप मात्र है, अपरिच्छिन्न सत्ता-स्वरूप एवं अखण्ड अनन्त भावमात्र है। किन्तु उसमें कुछ भी प्रतिभात नहीं हो रहा है—मानो चिदात्मक एक अनन्त दर्पण पड़ा हुआ है जिसमें कोई भी चित्र भासमान नहीं हो रहा है। केवल मानो दर्पण ही है, अपने आप ही है, और कुछ भी नहीं है। यही निराभास चैतन्य है—विश्वातीत चित्सत्ता है। इसे कोई-कोई आचार्य अखण्ड-अनन्त सत्ता-समुद्र में केवल चित्कला का प्रकाश कह कर वर्णन करते हैं। यह कला मानो कलातीत के साथ एक हो कर स्थित है। यही परम साक्षी-स्वरूप है। यह स्वप्रकाश द्रष्टा है।

यह स्वयं अपने को ही देख रही है। भिन्न दृश्य कुछ भी नहीं है। यह कला हो कर भी अस्पन्द है, एवं शक्ति हो कर भी शिव-स्वरूप है। कलातीत सत्ता चित्कला का कभी भी त्याग नहीं करती। यदि ऐसा माना जाय कि वह त्याग करती है, तब वह कलातीत अचित् होने के कारण असत् या असत्-कल्प रूप में वर्णित हुआ करती है। यह चित् कला स्पन्दनहीन होने पर भी अचिन्त्यरूप से स्पन्दनशील है। चित्कला की यह स्पन्दनशीलता ही महाशक्ति

की एक अन्य दिशा है। इस स्पन्दन के प्रभाव से इसमें निरन्तर संकोच व प्रसार नामक दो व्यापार चल रहे हैं। जैसे कलातीत सत्य है, चित्कला उसकी नित्य साथी है, वैसे ही चित्कला भी सत्य है और संकोच-प्रसार उसके नित्य साथी हैं। पक्षान्तर में यह भी कहा जा सकता है कि संकोच प्रसार सत्य है, चित्कला उसकी नित्य साथी है। एक को छोड़कर दूसरी नहीं रह सकती। चित्कला अमृत-कला है; सङ्कोच प्रसार उसका आश्रय लेकर कलनात्मक काल के खेल के रूप में प्रकाश पा रहा है। किन्तु कलनात्मक काल से अतिरिक्त कलनहीन महाकाल का एक परम रूप है—वह काल हो कर भी काल नहीं है एवं काल न हो कर भी काल है।

सङ्कोच प्रसार के मूल में है, चित्कला की स्वातन्त्र्यमयी लीला यह उसका स्वभाव है। चित्कला जब प्रसृत होती है, तब उसमें आभास स्फुट होता है। प्रसार की जो पूर्णता है, तदनुरूप प्रसारमय समग्र विश्व उसमें उभर उठता है। यह प्रसार क्रमशः होता है एवं अक्रम से एक ही क्षण में भी होता है—दोनों ही सम्भव हैं। अक्रम के स्थल में चिद्दर्पण में पूर्ण आभास विद्यमान रहता है। शाक्तगण इसे महासृष्टि कहते हैं। यह खण्डसृष्टि नहीं, क्रमशक्तिसम्पन्न काल की क्रमिक सृष्टि नहीं, यह महाकाल की महासृष्टि है। वस्तुतः यह सृष्टि हो कर भी सृष्टि नहीं है—नित्य वर्तमान है। यह चित् से पृथक कुछ नहीं, चित् का आभास-पक्ष विश्वात्मक है और निराभास-पक्ष विश्वातीत। वस्तुतः निराभास चित् में निराभास दशा में भी नित्य साभास दशा विद्यमान रहता है। इसीलिए ब्रह्म उभयलिङ्ग है—नित्य निर्गुण हो कर भी नित्य सगुण एवं नित्य निराकार हो कर भी नित्य साकार है। चिद्रूपा महाशक्ति में विश्व भासित हो रहा है यह भी सत्य है, अथच भासित नहीं हो रहा है, यह भी सत्य है। यह एक प्रहेलिका है।

जिसे हम सृष्टि और संहार कहते हैं वह काल का खेल है, इसीलिये क्रमयुक्त है; किन्तु यह परिच्छिन्न प्रमाता के निकट है, स्वरूपतः नहीं। चित्कलायुक्त शिव पर-प्रमाता है, परिच्छिन्न वा खण्ड प्रमाता नहीं। पर-प्रमाता प्रकाश और विमर्श का मिलित रूप होने से पूर्ण अहं—परमेश्वर वा परमेश्वरी है। कलातीत और चित्कला एक ही साथ अभिन्न स्वरूप में अवस्थित हैं—उसमें चित्कला अस्पन्द होकर भी निरन्तर स्पन्दनलीलाशील है,—उसके अहं के बीच अनन्त शक्ति का समाहार है।

जब परप्रमाता अपरिच्छिन्न रह कर ही स्वेच्छावशतः खेल के व्याज से स्वयं को परिच्छिन्न-वत प्रदर्शित करता है, तब इस परिच्छिन्न अहं के सम्मुख उसके प्रतियोगी के रूप में इदं का प्रतिभास होता है। इस प्रतिभास में क्रम रहता है, क्योंकि यह काल का आश्रय लेकर भासित

होता है। इसे एक प्रकार से आत्मा का self-alienation कहा जा सकता है। आत्मा तब स्वयं ही अपने लिए पराया हो जाता है—यही पर-प्रमाता का सर्वप्रथम सङ्कोचग्रहण है, एवं उसके फलस्वरूप चिदणु-भाव की प्राप्ति होती है। यह चिदणु ही परिच्छिन्न-प्रमाता, माया-प्रमाता खण्ड अहं, आदिम-अहं, आदि-जीव प्रभृति नामों से अभिहित हुआ करता है। इस के सम्मुख इदं रूप में सर्वप्रथम जो प्रकाशित होता है वह शून्य या आकाश है, इसका कोई-कोई चिदाकाश के रूप में वर्णन किया करते हैं। किन्तु यह चिदाकाश नहीं है, यह सत्य है। पहले जिस महासृष्टि की बात कही गई है, जो चित्सत्ता में दर्पणस्थ प्रतिबिम्बवत् प्रतिभासमान होती है, और जिसका नाश नहीं होता, यह वही है। निराभास चैतन्य दशा में उसकी उपलब्धि नहीं होती है। इस आभासरूपी विश्व का दर्शन जब अभेद में संघटित होता है, तब वही किसी-किसी के द्वारा भगवद्दर्शन के रूप में गृहीत होता है। यह अभेद-सर्वज्ञत्व की अवस्था है। किन्तु यह दर्शन-भेद में भी हो सकता है। अर्जुन का विश्वरूप दर्शन, योगवासिष्ठ में वर्णित लीला का विश्वदर्शन, दान्ते की डिवाइन कामेडी में वर्णित Sempiternal Rose का दर्शन—यह सभी भेद सृष्टि का दर्शन-मात्र है, यह महासृष्टि का दर्शन नहीं है।

आत्मा से भिन्न रूप में जगत् का दर्शन परिमित प्रमाता का दर्शन है, पर-प्रमाता का दर्शन नहीं। पर-प्रमाता समग्र विश्व को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में, आत्मस्थ प्रतिबिम्ब के रूप में देखा करता है। अणुभाव के साथ-साथ चित् महामाया में सो जाता है—इसी का नामान्तर है कालराज्य में प्रवेश। काल की दृष्टि में यही अनादि सुषुप्ति है। यह अनादि होने पर भी वास्तव में इसके मूल में है आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक सङ्कोचग्रहण। इस सुषुप्ति के बाद जागरण होता है—अवरोह क्रम से मायाभेद के बाद। तब चिदणु खेचरी चक्र के द्वारा नियन्त्रित होकर भिन्न-प्रमाता का स्वाँग धरता है, अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और सर्वदा अभावबोध के द्वारा क्लिष्ट प्रतीत होता है। आत्मस्वरूप की अख्याति व अज्ञान महामाया के रूप में वर्णित होता है। पशुभाव या जीवभाव उसके बाद घटित होता है। परा वाक् इस आदि जीव को महा-सृष्टिमूलक खण्ड-खण्ड अर्थ दिखाती है। ये सब विकल्प और क्षणस्थायी हैं—निरन्तर चित्तक्षेत्र में वे आते हैं और जाते हैं। वेदान्त शास्त्र में ये ही अविद्या की विक्षेपवृत्ति हैं। इसके बाद आता है कर्म, तब देह भी दृष्टिगोचर होता है। अणु उसमें प्रवेश करता है। देह कर्म सृष्ट है। श्रुति में है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'। पहले था आत्मा में अनात्मभाव या इदंभाव, उसके बाद होता है, देह में अहंभाव या अनात्मा में आत्मभाव। इसके मूल में है शब्द, वर्णशक्ति और वर्णमाला का

खेल। पश्यन्ती भूमि में अवरोह के समय आत्मा में अनात्म भाव की सूचना होती है, मध्यमा में सूक्ष्म का प्रवेश होता है और वैखरी में स्थूलभाव का उदय होता है। तब भौतिक देह में 'मैं' पन का उदय होता है। अब पहले बाह्य जगत् का दर्शन होता है। यह जो बाह्य जगत वा पूर्वोक्त महासृष्टि का एक देश है, यह देहावच्छिन्न अहं की बहिर्मुखी दृष्टि के सम्मुख भासित होता रहता है। इसी का नाम पतन है। यह आत्मा को पञ्चकृत्यकारिणी पञ्चशक्ति के अन्तर्गत तिरोधानशक्ति का चरमफल है।

अब पुनरालोचना के प्रसङ्ग में विषय का परिस्फुट भाव से संक्षेप में वर्णन करते हैं। मूल में परमशिव हैं—तब विश्व उनके साथ अभिन्न है। उसके बाद स्वातन्त्र्य के कारण आणव भाव-प्राप्ति है। यह अणु की सुप्तावस्था है। यह महामाया वा स्वरूपाख्याति है। प्रचलित भाषा में यही कुण्डलिनी की सुप्ति है। इसके बाद मायास्पर्श से सुप्तिभेद और जाग्रत भाव का उदय होता है। इस समय चित्त का आविर्भाव होता है, एवं स्वरूप से भिन्न रूप में विश्व का बोध होता है, और मायिक कञ्चुक का सम्बन्ध होता है। महान् और अणुभाव इस अवस्था में खिल उठते हैं। महान् समग्र विश्व को देख पाता है, किन्तु भिन्न भाव से। अणु विश्व का किञ्चित् अंश देख पाता है, वह भी भिन्न भाव से। इस समय विकल्प का उदय होता है—क्षण क्षण में नव नव उन्मेष खिल उठता है। इस नाटक के सूत्रधार के रूप में परावाक् सब कुछ दिखाया करती है। मित-प्रमाता उसे देख कर मुग्ध होता है। इसके बाद वह शब्द ही नादरूप में प्रकाश पाता है। तब सर्वत्र आकाश ही आकाश है। उसके बाद वह नाद खण्डित हो कर वर्णमाला के रूप में प्रतिभात होता है। देह रचना का यही समय है। माया के बाद कर्म की सूचना यहीं से होती है। सहस्रार में समष्टि वर्ण रहते हैं 'अहं' रूप में। और नीचे रहते हैं प्रत्येक चक्र में बिखरे हुए। यहाँ अहं नहीं है, अहङ्कार है। सहस्रार सहस्रदल अर्थात् अनन्तदल है। उसमें अनन्त वर्ण हैं। केन्द्र में है शिवशक्ति। प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना दल है। उसमें अपने-अपने चक्र का विस्तार होता है। मध्यमा से वर्ण आरम्भ होता है, किन्तु अस्पष्ट। वैखरी भूमि में वर्ण स्पष्ट होता है। मनुष्य देह वर्णों से परिपूर्ण है। किसी भी रचना के मूल में वर्ण है। कलना, सङ्कल्प, वृत्ति, भाव, संस्कार, वासना, स्वभाव :सब कुछ ही वर्ण-मूलक है; सर्वत्र ही वक्रवायु का खेल है। ये सब शुद्ध वर्ण नहीं है। सहस्रार का वर्ण शुद्ध है, क्योंकि वहाँ वायु की वक्रता नहीं है। जहां वर्ग है, वहीं पर राज्य है—उसमें प्रवेश करने पर वहाँ मिलता है नाद, केन्द्र में मिलता है बिन्दु। बिन्दु भेद करने पर महाप्रकाश होता है।

सहस्रार में भी चारों ओर वर्ण हैं। केन्द्र के पथ में महानाद या परनाद है एवं केन्द्र में बिन्दु है। यह बिन्दु ही ब्रह्मबिन्दु है—भगवद्धाम का केन्द्र है, भगवद्धाम अभिन्न विश्व है। मातृगर्भ में देह रचना—वर्णों के द्वारा अर्थात् प्रणव के द्वारा या रश्मियों द्वारा होती है। जीव वस्तुतः अपने देह को स्वयं ही बनाता है, बाद में उसमें अहंबोध करके बद्ध हो जाता है। स्थूल दृष्टि से इस अहंबोध का सूत्रपात प्रसव के पश्चात ही होता है—पहला श्वास लेने के साथ-साथ। यही देहात्मबोध का रहस्य है।

शाक्तदृष्टि से, अनात्मा में आत्मबोध के मूल में वर्ण अथवा अशुद्ध मातृका की क्रिया वर्तमान है। दूसरी ओर आत्मा में आत्मबोध अथवा अहंबोध के मूल में शुद्ध मातृका की क्रिया है। आत्मा में जो आत्मबोध होना है वह इस शुद्ध मातृका के प्रभाव से ही हुआ करता है। जिसको भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति का खेल कहा जाता है यह उसी का स्वरूप है।

अवतरण का एक क्रम है, और नहीं भी है। अवश्य ही यह बौद्ध क्रम है, कालगत या देशगत क्रम नहीं है। अवतरण के समय यह क्रम साधारणतः अलक्षित रहता है एवं उत्थान के समय वह लक्षित होता है।

पहले स्फुरित होता है ज्ञाता या प्रमाता, इसके पश्चात् ज्ञान या प्रमाण एवं सबके अन्त में ज्ञेय या प्रमेय। परमेश्वर अवश्य ही परम प्रमाता सर्व ज्ञाता हैं। वहां उनका ज्ञान नित्यसिद्ध है एवं इस ज्ञान में भासमान ज्ञेय भी नित्यसिद्ध है। वस्तुतः वहां तीनों अभिन्न या एक हैं। यही परशिवावस्था में भगवान् की विश्वात्मक स्थिति है। भगवान् की जो विश्वातीत स्थिति है, उसी का साधारणतः निर्गुण ब्रह्म कह कर वर्णन किया जाता है। इस निर्गुण विश्वातीत स्थिति से समग्र सृष्टि प्रपञ्च अनिर्वचनीय माया का खेल-रूप प्रतीत होता है। इसीलिये यह मिथ्या या विवर्तमात्र है। ब्रह्म कर्त्ता नहीं हैं, मायिक प्रपञ्च के अधिष्ठान मात्र हैं। इस सृष्टि में ईश्वर हैं, जीव हैं, जगत् है और प्रवाह रूप में काल, कर्म, अविद्या आदि हैं। ब्रह्म में कुछ भी नहीं है, अथच मायावशतः उसमें सब कुछ भासित होता है। किन्तु विश्वात्मक परमशिव में अभिन्न रूप से विश्व भी सदा ही रहता है। स्वातन्त्र्य के कारण वह उसी में उससे पृथक् रूप से भी भासित हो सकता है। जो कुछ भासता है वह उसमें अभिन्न भाव से सदा ही भासता है, किन्तु उसकी इच्छा होने पर वह पृथक् रूप से भी भासित हो सकता है। यही सृष्टि का रहस्य है। यह मिथ्या नहीं है, क्योंकि उसमें अभिन्न रूप से यह सदा विद्यमान है। इसीलिये कहा जाता है कि समग्र विश्व शक्ति-रूप से उसके साथ अभिन्न है, केवल उसकी इच्छा से सृष्ट या विसृष्ट मात्र होता है। जो उनमें नहीं भासित होता उसका स्फुरण पृथक् रूप से भी नहीं हो सकता।

यह जो अवतरण का क्रम कहा गया, इसमें इस बात को लक्ष्य करना आवश्यक है कि स्वतन्त्रा चिति ही विश्वसिद्धि का हेतु है। शक्ति-सूत्रकार ने भी यही कहा है। इससे प्रतीत होता है कि सबके आदि में अर्थात् त्रिपुटीरूप विश्व-रचना के पूर्व जो विद्यमान है, वह प्रमिति या संवित् है। पहले इस पूर्ण संवित् या चित्शक्ति से खण्ड प्रमाता या चिदणु का उदय होता है। यह ज्ञानहीन व ज्ञेयहीन ज्ञाता का मूलस्वरूप है। उसके पश्चात् इस ज्ञाता से ज्ञान का उदय होता है। तब की स्थिति ज्ञाता व उसका ज्ञान है। यह ज्ञान अभेदात्मक (वर्ण) उसके पश्चात् भेदाभेदात्मक (मन्त्र), अन्त में भेदात्मक (पद) इस प्रकार त्रिविध है। यह वर्णरूप अभेदज्ञान व पूर्वोक्त संवित्-स्वरूप ठीक एक नहीं है। मन्त्ररूप ज्ञान में ज्ञेय का भान रहता है। इसे अभेद में भेद का उन्मेष समझना चाहिए। पदरूप ज्ञान में भेद का प्राधान्य रहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि वह भी ज्ञान ही है, यद्यपि वह ज्ञेयरूप से प्रतिभासमान हुआ करता है। इसके पश्चात् ज्ञान का अवसान होने पर अज्ञान के बीच क्रियाशक्ति का खेल आरम्भ होता है। तब केवल ज्ञेयमात्र रहता है, ज्ञान नहीं रहता यही हुआ तन्त्रमतानुसार वाचकमार्ग से वाच्यमार्ग में प्रवेश। क्रियाशक्ति कलना रूप से ज्ञेयरूपी ज्ञान को बाहर निकाल देती है, इसी का नाम है अर्थसृष्टि अथवा Matter का आविर्भाव। इसकी भी प्रगति का क्रम है। पहले कलन के प्रभाव से कला का आविर्भाव होता है फिर कला से तत्त्व का आविर्भाव होता है एवं अन्त में तत्त्व से भुवन का आविर्भाव होता है। यहीं पर अर्थ का पर्यवसान घटित होता है। संक्षेप में यही जग के स्वरूप की आलोचना है।

आरोह क्रम इसके ठीक विपरीत है। अवतरण क्रम को जीव नहीं जान सकता, किन्तु उद्धार का क्रम जान सकता है। इससे समझा जा सकता है कि भगवान् की तिरोधान शक्ति ही उसका आत्मसङ्कोच सम्पादन करती है। प्रचलित भाषा में यही कुण्डलिनी की सुप्ति है। यह बात पहले ही कही गई है। इसी का ऊर्ध्व प्रान्त है अनुभाव का उदय एवं आत्मा में अनात्मभाव का स्फुरण। इसका अधःप्रान्त है अनात्मभाव में आत्मभाव का उन्मेष। मनुष्य गर्भ से भूमिष्ठ होने के साथ-साथ, अस्फुट रूप से हो सही, देह में अहंबोध का अनुभव आरम्भ कर देता है, यही अहङ्कार है। देह ही तब अहं है, दृष्टि बहिर्मुखी एवं इन्द्रियों द्वारा अहंरूपी आत्मा बाह्य जगत् का अनुभव करने लगता है। देहाभिमानी होने के कारण जगत् को अपने से भिन्न अनुभव करता है। यह अनुभव भोगरूप है। यही बाह्य जगत् की सृष्टि है। यह बाह्य जगत् एक प्रकार से जीव की अपनी सृष्टि है। जब तक इस जगत् को अपने ही अन्तर्गत रूप में, दर्पण में दृश्यमान नगरी की भाँति देख नहीं पायेगा, तब तक वह पतित

ही है एवं पतित ही रहेगा। कितना ही अधिक समय लगे, व कितने ही लोक-लोकान्तरों में वह सञ्चरण कर ले, वास्तव में वह पतित ही है, इसमें सन्देह नहीं। शुभकर्म के फलस्वरूप लोक-लोकान्तरों में जा कर भोग-ऐश्वर्य प्राप्त करने पर भी वह पतित ही है। सद्गुरु के अनुग्रह के बिना उसका उद्धार सम्भव नहीं।

आत्मा जब जीव बनकर पतित होता है, तब प्रत्येक स्तर में ही भगवत्-शक्ति उसकी पतित अवस्था के अनुरूप सहायता करती है अर्थात् भगवत्-शक्ति उसके प्रतिकूल रूप से कार्य करती है। वास्तव में आत्मा की अपनी शक्ति ही आत्मा को मोहित किये रहती है। यह चक्रों के रूप में उसको नियन्त्रित करती है। कुछ शक्तियाँ, जिन्हें खेचरीशक्ति कहा जाता है, खेचरी-चक्ररूप में आवर्तित हो कर उसको मित प्रमाता के रूप में परिणत करती हैं। दिक्‌चरी शक्तियाँ सकल दिक्‌चरी चक्र के नाम से आवर्तित होती हुई उसके अन्तःकरण के रूप में प्रस्फुरित होती हैं। इसी प्रकार गोचरी शक्तियाँ गोचरीचक्र नाम धारण करके उसकी इन्द्रियों के रूप में परिणत होती हैं। एवं भूचरी शक्तियाँ भूचरी चक्र नाम से उसे देह में अहं रूप से आबद्ध करती हैं। विशाल व अनन्त मुक्तसत्ता में अहं प्रतीति का उदय भूचरी चक्रद्वारा प्रतिरुद्ध होता है।

इस प्रकार जीव जब पाशबद्ध होता है, तब 'dumb driven cattle' की भाँति होने से पशु-पद-वाच्य होता है। इस पशुरूपी जीव की इस समय की अनुभूति कैसी होती है? ऐसा बद्ध पशु जगत् को अपनी सत्ता से पृथक रूप से ही जानता है एवं भिन्न ही देखता है। केवल यही नहीं, सर्वत्र एक नियतभाव उसमें रहता है, जिसका शाक्त आचार्यगण विकल्प नाम से निर्देश करते हैं। जैसे—एक फूल देख कर जब उसे फूलरूप से समझते हैं, अर्थात् वह फूल ही है, अन्य कुछ नहीं, इस प्रकार उसे समझते हैं, तब समझना चाहिए कि हमारा यह दर्शन एक विकल्प मात्र है। यह जो नियमरूप से अवधारण है—यह फूल है, पत्ता नहीं है, फल भी नहीं है, एवं और कुछ भी नहीं है, यही विकल्प है। सर्वत्र ही नाम, जाति आदि की योजना रहती है। वस्तुतः यह फूल नहीं है, इसमें सब कुछ है, अर्थात् 'सर्वं सर्वात्मकम्' भाव से इसे ग्रहण करना ही निर्विकल्प दर्शन है। बद्ध जीव नाम, जाति, आकार, आदि की योजना से रहित रूप में कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता। यदि कर सकता तो यह नियन्त्रण न रहता एवं जिस किसी स्थान में, किसी भी समय, किसी भी सत्ता का ग्रहण करना उसके लिये सम्भव होता।

अवतरण के पथ में जीव रूपी अणु अनेकों के अधिकार में होता है। सबसे पहले वह बिन्दुस्थित शिव के अधिकार में होता है। वह शिव अनाश्रित शिव हैं। इसके फलस्वरूप

२

क्रमशः आत्मा की अणुभाव-प्राप्ति, महामाया का आश्रय ग्रहण एवं स्वरूप की विस्मृति घटित होती है। इसके पश्चात् यह सङ्कुचित आत्मा या अणु मायाधिष्ठाता ईश्वर के अधिकार में आता है। ये अणु को माया-युक्त करते हैं अर्थात् षट्कञ्चुक के आवरण में ढक देते हैं। इसके बाद यह कञ्चुकित आत्मा ब्रह्मा के अधिकार में आता है एवं उससे देहयुक्त होता है। कहना न होगा, कञ्चुक-आवरण से आवृत हो कर आत्मा अनादि अनन्त कर्म संस्कारों में से होता हुआ गुणराज्य में प्रवेश करता है। गुणराज्य में रजोगुण के अधिष्ठाता ब्रह्मा उसको संस्कारानुरूप प्राकृत देह देते हैं। यहाँ का व्यापार अत्यन्त रहस्यमय है। कालातीत सत्ता से कालराज्य में प्रवेश के साथ-साथ आत्मा स्वरूपतः साक्षिमात्र होते हुए भी कर्तृत्वाभिमान-युक्त होता है। कर्म प्रवाह अनादि है। आत्मा माया-स्पर्श के पश्चात् काल व कर्म के साथ युक्त हो कर अनादि कर्म-संस्कार युक्त रूप से अवस्थित होता है। वस्तुतः प्रकृति के गुणों से ही कर्म-सम्पादन होने पर भी अविवेक के कारण अहङ्कार मोह से मूढ़ हो कर आत्मा स्वयं को कर्त्ता समझता है। कहना न होगा, यह परिच्छिन्न कर्तृत्व है, जिसके मूल में कला व अशुद्ध विद्या हैं। देहप्राप्ति के पश्चात् जब तक देह का अवसान नहीं होता अर्थात् देह के स्थितिकाल तक वह विष्णु के अधिकार में रहता है। विष्णु प्राकृत सत्वगुण के अधिष्ठाता हैं। इसके पश्चात् देह-संहार-व्यापार में मृत्युकाल में वह रुद्र के अधिकार में होता है। इस प्रकार मल का परिपाक न होने पर्यन्त अणुरूपी जीवात्मा या पशु, मृत्यु से जन्म व जन्म से मृत्यु यही क्रम पकड़े हुए ब्रह्मा आदि त्रिदेवों के आश्रय में संचरण करता रहता है। सञ्चरण-काल में कर्मानुसार अधः, ऊर्ध्व व मध्य त्रिविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। मलपाक जब तक सुसम्पन्न नहीं होता तब तक इसी प्रकार उसका भवचक्र में आवर्त्तन चलता रहता है। मलपाक होने पर ही श्रीभगवान् की अनुग्रहशक्ति उसमें सञ्चारित होती है। तब वह जगद्गुरु सदाशिव के अधिकार में आता है। दीक्षा के साथ-साथ वह शुद्धविद्या को प्राप्त करके शुद्ध मार्ग में आरोहण करते करते अनाश्रित शिवतत्त्व का भेद करके पूर्ण परमेश्वर या परमशिव अवस्था में स्थित होता है।

(२ क)

आत्मा पूर्वोक्त प्रणाली से जीवभाव ग्रहण करके अर्थात् आत्मविस्मृत हो कर अनादि काल-स्रोत में भासित होता आ रहा है। यही उसका पतन है। आत्मा वास्तव में देश व काल के अतीत है। इसी कारण वह कब इस स्रोत में पतित हुआ इसे मानवीय भाषा में व्यक्त नहीं

किया जा सकता। किन्तु पतित होने के बाद यदि वह दृष्टि उन्मीलित करने में समर्थ होता है, तब वह देख पाता है कि यह एक अनादि प्रवाह है। खोजने पर भी इसके आदि को वह पा नहीं सकता। वास्तव में जीव का पतन काल और अकाल की सन्धि का व्यापार है। वस्तुतः कालस्रोत से मुक्ति-लाभ भी इसी प्रकार का व्यापार है।

जीव आत्मविस्मृत होकर अपनी शक्ति के अधीन हो जाता है, एवं देहेन्द्रिययुक्त अवस्था में कर्म के अनुसार समग्र मायिक जगत् अर्थात् मायाण्ड में असंख्य प्रकृताण्ड हैं, एवं प्रत्येक प्रकृताण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड वर्तमान हैं—ये सभी जीव के भ्रमण क्षेत्र हैं। उत्थान-पतन निरन्तर होता रहता है। किन्तु इसका कोई मूल्य नहीं; क्योंकि ऊर्ध्वलोक में जाने पर भी पतित जीव पतित ही रहता है। ऊर्ध्वगति होती है कर्मानुसार, कर्मानुसार ही अधोगति भी होती है। सुतरां इस ऊर्ध्वगति या अधोगति के प्रभाव से जीव के स्वरूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। जीव के प्रकृत उत्कर्षलाभ को सूचना तभी माननी होगी जब जीव जीव-भाव से छूट कर अपने नित्यसिद्ध शिवस्वरूप का सन्धान पाने में समर्थ होता है। यह भगवदनुग्रह-रूपा शुद्ध विद्या के उदय के बिना नहीं हो सकता। शुद्ध विद्या के उदय के फलस्वरूप जीव इस विराट् विकल्प जाल के बन्धन से चिरमुक्त हो कर निर्विकल्प परमपद में प्रतिष्ठित होता है। जीव जब परमपद में स्थान लाभ करता है तब वह जीवसृष्टि व ईश्वरसृष्टि दोनों से मुक्त होकर विशुद्ध विकल्प शून्य आत्म स्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है। जीव-सृष्टि में प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न वासना व कल्पना द्वारा रचित है। नाम, जाति प्रभृति की योजना फलस्वरूप जीव का ज्ञान विकल्पमय है, एवं इसी विकल्प पर जागतिक व्यवहार प्रतिष्ठित है।

जब श्रीगुरु-कृपा से शुद्ध विद्या का सञ्चार होता है तब जीव की दृष्टि क्रमशः परिवर्तित हुआ करती है। 'शुद्धविद्या' से यही समझना होगा कि गुरु अनुग्रहपूर्वक ज्ञानाञ्जन शलाका द्वारा शिष्य की तिमिराच्छन्न दृष्टि उन्मीलित कर देते हैं। कौलगण कहते हैं कि समग्र सृष्टि के मूल में जो परम बोध-समुद्र वर्तमान है, उसका नाम अकूल है। इस अकूल में तरङ्ग या ऊर्म्मि का उन्मेष ही अनुग्रह नाम से परिचित है। यह तरङ्ग स्पन्दात्मक है। अकूल समुद्र में जब प्रथम स्पन्दन का उदय होता है तब यह स्पन्दन अनुग्रह के विषयभूत जीव का स्पर्श करता है। यह स्पन्द चित्शक्ति का विकासात्मक है। जीव की अज्ञानमूलिका विकल्पदृष्टि पर जब इस चित्-ऊर्मि का आघात पड़ता है तब जीव को सत्ता में परिवर्तन होना आरम्भ होता है। सर्व प्रथम यह उन्मेष-प्राप्त चित्शक्ति काल को ग्रास करके प्रवृत्त होती है। काल के ग्रसित हो जाने पर ही जीव की दृष्टि से विकल्पजाल क्रमशः कटने लगता है। इस प्रक्रिया के क्रमिक विवर्त्तन से सर्वप्रथम प्रमेय का शोधन होता है। प्रमेय की शुद्धि के फलस्वरूप आत्मा के

आध्यात्मिक जीवन में एक विराट् परिवर्त्तन लक्षित होता है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—'विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्' अर्थात् नगर जिस प्रकार दर्पण में दृष्ट होता है उसी प्रकार विश्व भी आत्मा में नगर के प्रतिबिम्ब की भाँति प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ता है। तथापि 'मायया बहिरिवोद्-भूतं' अर्थात् मायावशतः बाह्य के समान प्रतीत होता है। यह प्रतीति सत्य नहीं है, माया कट जाने पर अथवा उसका कटना आरम्भ हो जाने पर समग्र विश्व को आत्मा अपने बीच ही अनुभव करता है। जो बाह्यवत् आभास है, पूर्ववर्णित प्रमेय-शुद्धि के फलस्वरूप, वह नहीं रहता। देहात्मबोध विद्यमान रहने के कारण आत्मा भ्रमवशतः समझता है कि विश्व उसके बाहर है। देहात्मबोध कट जाने पर वास्तव में बाह्य नाम से कुछ रहता ही नहीं। विश्व तब भी रहता है, किन्तु बाहर नहीं, भीतर ही। शुद्धविद्या या जाग्रत् चित्शक्ति बुभुक्षु है। वह पहले विश्व को ग्रास करने के लिये उन्मुख होती है। वह बहिर्मुख होकर विश्व को भीतर ले आती है। विसर्ग द्वारा विश्व विसृष्ट हुआ है। अब बिन्दु उसे अपने भीतर खींच लेता है। संवित् विषय ग्रहण कर के जब तृप्त होता है तब फिर विषय भोग क्रिया नहीं रहती। ज्ञान रागात्मक होता है एवं स्वात्मरूप में साक्षात्कृत होती है। यह स्थिति कैसी है, इसे संक्षेप में कहते हैं। तब अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक भाव के अवस्थान काल में भी पराशक्ति विषयभोग वा राग को निर्विकल्पक भाव से अनुभव करती है। यही विकासमयी चिद्देवी का द्वितीय विकास है। परम योगी इस अवस्था में वीरेन्द्र या वीरेश्वर नाम से अभिहित होता है। यह प्रकृत भोग की अवस्था है—यह पशु का भोग नहीं, वीर का भोग है। क्योंकि पशु जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तीन कालों में पृथक्-पृथक् भाव से भोक्ता रहता है, उसकी तुरीय अवस्था नहीं है। किन्तु यह जो भोग की अवस्था की बात कही गई, यह तुरीय दशा है। इस दशा में जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों कालों में ही यह तुरीय दशा है। इस दशा में जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्ति तीनों कालों में तुरीयानन्द का उल्लास विद्यमान रहता है। इसी कारण शिवसूत्र में 'त्रितयभोक्ता वीरेशः' कहकर इस अवस्था का वर्णन किया गया है। उत्पलाचार्य ने इसी अवस्था के सम्बन्ध में अपने 'शिवस्तोत्र' में कहा है—

> 'तत्तद् इन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्च्चनरसायनासवम्।
> सर्व्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः।'

यह एक अद्भुत अवस्था है। यह जो भोग है यही श्रीभगवान् की अर्च्चना है। प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा उनके पूजा रसायन-रूप आसव को समस्त भाव-रूप चषक या पात्र में पूरी तरह भर पाने से एक नशे जैसे भाव का उदय होता है, यह वही है। चक्षु द्वारा रूप देखना

अर्थात् चक्षु के द्वारा रूप नामक भाव में या चषक में पूजारस का पान करना व तन्मय होना है। कान में शब्द सुनना भी वही है। यह भोग ही उपासना है। यह जाग्रत में होता है, स्वप्न में होता है, सुषुप्ति में भी होता है, जब जिस भाव में रहा जाय वही उसकी पूजा है। यह दुर्बल का कार्य नहीं है, यही वीर भाव है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्'—यह वही अवस्था है।

इसके पश्चात् विषयभोग के अन्त में तृप्ति होती है। तृप्ति के पश्चात् अन्तर्मुख दशा का आविर्भाव होता है। तब ग्राह्य व ग्रहण की स्थिति आत्मसात् होती है। तब कौन तृप्त होता है?—करणेश्वरी देवियाँ। कब तृप्त होती हैं? – विषय-भोग-क्रिया समाप्त होने के बाद। तब क्या होता है? करणेश्वरी-गण चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिङ्गन करके पूर्ण अन्तर्मुख होती हैं—तब ये सब करणेश्वरी देवियाँ व चिद्भैरवनाथ अभिन्न हो जाते हैं। यही उनके आलिङ्गित अवस्था में शयान-भाव का तात्पर्य है। जब तक इन्द्रियाँ अकांक्षायुक्त रहती हैं तब तक करणेश्वरियाँ चिदाकाशनाथ का आलिङ्गन नहीं कर सकती।

जब तक इन्द्रियों की विषयभोगाकांक्षा रहती है, तब-तक श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती रहती है एवं १२००० नाड़ियाँ सक्रिय रहती हैं। तब आन्तर व बाह्य द्वादशान्तों के बीच एक गतागति की क्रिया चलती रहती है। अन्तर्मुखी गति में आन्तर द्वादशान्त में प्रवेश होता है एवं बहिर्मुखी गति में बाह्य द्वादशान्त का स्पर्श होता है। ये दो सङ्घट्ट स्थान हैं। जब इन दोनों संघट्ट स्थानों में सन्धि होती है तभी परप्रमातृपद उन्मीलित होता है। ठीक इसी प्रकार की अवस्था प्रमाण व प्रमेय की सन्धि में भी होती है, यह परप्रमातृदेवी परसंविद्रूपा है, इसमें सन्देह नहीं, तब परासंवित् अपने तेज व दीप्ति के प्रभाव से मितप्रमाता को अपने स्वरूप में मग्न करती है। इसके फलस्वरूप एक ओर जैसे प्राण व अपान के संघर्ष से होनेवाला क्षोभ निवृत्त होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार प्रमाण व प्रमेय का संघर्ष भी निवृत्त होता है। यह शान्त निर्विकल्प अवस्था है। उत्पलाचार्य आदि के मत में यह आध्यात्मिक शिवरात्रि है। तब चन्द्रादि के साथ सूर्य भी अस्तमित रहते हैं।

इस अवस्था का अतिक्रमण कर पाने पर जिस विशिष्ट स्थिति का लाभ होता है उसमें दो भाग हैं। एक बाह्य, दूसरा आभ्यन्तरीण। जिसको बाह्य कहा गया है, वह स्वरूप का आच्छादन है और दूसरा स्वरूप का उन्मीलन है। इस स्थितिकाल में ही योगियों की परीक्षा होती है। इस स्थिति में प्रमाण-प्रमेय भाव जैसे नहीं रहता, वैसे ही प्राण व अपान की क्रिया भी नहीं रहती। पहला ज्ञान या मन का पक्ष है, दूसरा प्राण का। दोनों ही समान रूप से शान्त हैं। शाक्तों की गुह्य परिभाषा में एक का सूर्य के द्वारा और दूसरे का

चन्द्र के द्वारा द्योतन किया जाता है। चन्द्र व सूर्य के समान रूप से अस्तमिति होने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में ज्ञानज्ञेय भाव की तरङ्ग नहीं रहती एवं प्राण की हलचल भी शान्त हो जाती है। इस स्थान का योगियों के परीक्षा-स्थान के रूप में निर्देश करने का कारण यह है कि यहाँ स्वरूप का अनुसन्धान जगा न रख पाने पर स्वरूप ढक जाता है, तब महामाया में प्रवेश होने के कारण स्वरूप आवृत हो जाता है। इस अवस्था में स्वरूप का अनुसन्धान जाग्रत रखना होता है। शिवरात्रि के जागरण का यही तात्पर्य है। शिवसूत्र की परिभाषा में इस जागरण को ही उद्यम कहा है—'उद्यमो भैरवः'। यह अनाख्या दशा के नाम से परिचित है। स्वरूपानुसन्धान ठीक रहने पर इस अवस्था में प्रवेश के साथ-साथ ही स्वरूप का विकास होता है—यह महाव्योम है। इस व्योम में चन्द्र-सूर्य का सञ्चार नहीं है अर्थात् प्राण-अपान की क्रिया नहीं हैं, एवं प्रमाण-प्रमेय की क्रिया भी नहीं है। इसी का नामान्तर चिदाकाश है, क्योंकि इसी में चन्द्र-सूर्य लीन हो जाते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होने मात्र से ही योगी कृतार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ आकर सुषुप्त रहने से यही मोह रूप में परिगणित होता है, एवं जाग्रत रह पाने से यह नित्य निरावरण आकाश के रूप में परिगणित होता है। जागे रहने का तात्पर्य यह है कि योगी को इस अवस्था में अपने सत्ता बोध में सतर्क रहना होता है—अर्थात् अनाख्या दशा में आत्मा अपना सत्ताबोध यदि बनाए रख सके तो सदा के लिये आवरण-रहित प्रकाश के राज्य में उन्नीत होने में समर्थ होता है। आत्मविमर्श न रहने पर यहाँ तक उत्थित हो कर भी पतित होना असम्भव नहीं है।

इस महाव्योम के वर्णन के प्रसङ्ग में उत्पलाचार्य ने कहा है—

"तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवत् मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः" ॥

यहाँ तक ऊर्ध्वगति प्राप्त करने के बाद भी योगी के चित्त में शङ्का का उदय नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है। किन्तु शङ्का के उदित होने पर भी योगी स्वात्मानुसन्धान रूप प्रयत्न के द्वारा उसे काट सकते हैं। यदि ऐसा अनुसन्धान न हो तो पतन असम्भव नहीं है। आत्मानुसन्धान रहने से स्पष्ट देखा जाता है कि विकल्परूपी समग्र जगत् तब अन्तर्मुख पद में लीन हो जाता है। तब आत्मा चराचर को ग्रास करके उसी ग्रास के उल्लास में एक रसमय स्थिति प्राप्त करता है। यह स्थिति परप्रमातृ दशा में ही स्थिति है, और कुछ नहीं। ब्रह्मसूत्र में जो 'अत्ता चराचरग्रहणात्' कह कर आत्मा को चराचर समग्र विश्व के ग्रासकर्त्ता के रूप में वर्णित किया गया है, यह वही है। स्वरूपानुसन्धान न रहने से इस स्थिति के ठीक विपरीत अवस्था का उदय होता है; वह प्रमोद-विलास के रूप में मितप्रमातृभाव का विस्तार मात्र है।

(२ ख)

स्मरण रखना होगा कि स्वरूपगोपन और स्वरूपोन्मीलन ये दोनों व्यापार ही पूर्ण दशा में रहते हैं ; किन्तु गुरुकृपा के प्रभाव से स्वरूपगोपन समूल उपसंहृत हो जाता है, अर्थात् महामाया निवृत्त होती है एवं बहिर्मुखी वृत्ति या संसार चक्र स्वात्माग्नि में अभेद ज्ञान में परिणत होता है एवं अन्तर्मुख पद के आश्रय से अद्वय स्वरूप में स्थिति होती है। यहाँ तक निष्पत्ति हो जाने पर इसके बाद की अवस्था बिना चेष्टा के ही संघटित होती है। तब फिर स्वरूप-गोपन नहीं होता एवं बाह्यवृत्ति भी नहीं जागती। इस अवस्था का पारिभाषिक नाम 'भावसंहार' है। यह उन्मना अवस्था में निर्विकल्प आत्मसंवेदन उदित होने पर प्रकाशित होता है। इस स्थिति में आत्मस्वरूपभूत ज्वलन्त अग्निराशि में भावमय समग्र विश्व का उपसंहार घटित होता है। परासंवितरूपा देवी की महिमा से तब समस्त प्रमेयों का समूल उच्छेद होता है। इस अवस्था में एक ओर जैसे भेदज्ञान नहीं रहता, दूसरी ओर इसी प्रकार हेय व उपादेय बोध भी नहीं रहता। इसीलिये यह शङ्काशून्य व कल्पनाशून्य निर्विकल्प स्थितिरूप में वर्णित होती है।

किन्तु, तब भी यह पूर्णाहन्ता-स्वरूप नहीं है, क्योंकि संस्कार रहने से अतिसामान्य होने पर भी इदन्ता का लेश तब भी रह जाता है। कौल लोग कहते हैं कि पाँच संवित् देवियों द्वारा प्रमेय का समूल उच्छेद होने पर भी उसका संस्कार रह जाता है। इसी कारण इस स्थिति में योगी को ऐसा विमर्श होता है कि 'मैंने ही इन सब रूपों को अभिन्न रूप से अवभासित किया है'—अर्थात संहार होने पर भी संस्कार रह जाने से संहार का परामर्श होता है। इसके बाद यह संस्कार रूप उपाधि भी फिर नहीं रहती। परासंवित् का यह रूप पूर्वोक्त पाँच रूपों को आत्मसात् करके प्रकाशित होता है। जब तक संस्काररूप उपाधि विद्यमान थी तब तक काल की कलना भी कुछ कुछ थी। किन्तु संस्कार नाश के पश्चात् जिस अहंभाव का उदय होता है, वह स्वभावभूत अहं है। योगी को इस समय की अनुभूति में 'सब कुछ मैं हूँ' ऐसा परामर्श देखा जाता है। किन्तु यह भी योगी की आत्मा रूपी शिव की पूजा की ही एक उच्च अवस्था है। इस अवस्था को लक्ष्य करके उत्पलाचार्य ने कहा है—

"तामगाधमविकल्पमद्वयं स्वस्वरूपमखिलार्थघस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा पूजयेयमभिसम्भवीय च॥"

इसके बाद की स्थिति में परासंवित् जिस प्रकार आत्मप्रकाश करती है, वह भिन्न-भिन्न रूपों

का विकास एवं इन सब विकासों का अपने स्वरूप में विलयन सम्पन्न करती है। यह संहार से भी अधिक गम्भीर अवस्था है। पहले जिस 'भाव-संहार' की बात कही गई है वह प्रमेय पर्यन्त के संहार का नामान्तर है, किन्तु अब जिस संहार का स्वरूप प्रकट हुआ है, उसमें प्रमाण तक उपसंहृत हो गया है। महाकल्प के बाद जो संहार होता है, यह उसी के अनुरूप है। इस समय समस्त प्रमेय व प्रमाण चिद्रूपी दीप्ति में भली प्रकार लीन हो जाते हैं। यहाँ आचार्यों ने एक विषय में सम्भाव्यमान शङ्का का समाधान करने की चेष्टा की है। पहले संहार भूमि का जो विवरण दिया गया है उसके साथ वर्तमान भूमि की तुलना करने पर देखा जा सकेगा कि दोनों स्थलों पर ही शङ्का का उदय होना सम्भव है, किन्तु इन दोनों भूमियों का स्थितिगत पार्थक्य यह है कि निम्नभूमि पर इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अपना व्यक्तिगत प्रयत्न या अनुसन्धान आवश्यक होता है। वह होने से शङ्का स्वभावतः निवृत्त होती है, और न होने से शङ्का निवृत्ति न होने के कारण पतन होता है। ऊपर की भूमि में भी शङ्का अवश्य ही उठ सकती है, किन्तु वह अपनी चेष्टा के बिना स्वयं ही कट जाती है। यहाँ शङ्कापद का तात्पर्य कर्तव्याकर्तव्य विचार ही है। यह भूमि सदाशिव-दशा के अनुरूप है। इस अवस्था में शङ्का और ग्लानि उत्थित होने पर भी योगी का विघ्न-उत्पादन नहीं कर सकते। इस स्थिति में प्रमेय सर्वथा विलीन है। अवश्य ही प्रमाण में स्थित प्रमेय की जीवनीशक्ति अभी भी वर्तमान है। यह जीवनी शक्ति हमारी दार्शनिक परिभाषा में द्वादश इन्द्रिय-रूप में वर्णित होती है। यह भी आगम मत में सूर्य का ही एक रूप है।

किन्तु इसके बाद की अवस्था में द्वादश इन्द्रियात्मक सूर्य अहङ्कार-रूपी परमादित्य में लीन हो जाता है। यह अहङ्कार ही प्रमाता है। इसी का नामान्तर किसी-किसी आगम के अनुसार 'भर्गशिखा' है। परासंवित के आठ रूपों में शब्दादि विषय रस के आत्मस्वरूप में कैसे लय होते हैं यह समझा गया। इस अवस्था में समस्त कलाओं का उपसंहार होकर केवल परमा कला या अमा कला वर्तमान रहती है। यही शिवकला व परप्रमातृरूपा है।

(२ ग)

यह जो अहङ्काररूपी परमादित्य की बात कही गई, यह परिच्छिन्न प्रमाता है, यह स्मरण रखना होगा। परमादित्य के बाद जिस अहंसत्ता का उदय होता है, वह परम आदित्य से उत्कृष्ट अवस्था अवश्य है, किन्तु वह भी परिच्छिन्न प्रमाता ही है। इसका पारिभाषिक नाम कालाग्निरुद्र है। यह परमादित्य के ऊपर है, किन्तु तथापि यह अमित प्रमाता नहीं है। यह

एक ज्वलन्त स्थिति, संसार दग्ध हो गया है अवश्य, किन्तु तब भी लेशमात्र पशुत्व वर्तमान है। योगी की इस स्थिति में विषय व इन्द्रिय का संस्कार मात्र भी नहीं रहता। एकमात्र इन्द्रियातीत निर्विकल्प प्रमाता ही प्रकाश रूप से विद्यमान रहता है।

इसके पश्चात् रुद्रावस्था कट जाती है, रुद्रावस्था का अवसान होने पर भैरव अवस्था का उदय होता है। आदित्य के बाद रुद्र एवं रुद्र के बाद भैरव—यही क्रम है। भैरव का जो रूप सर्वप्रथम आत्मप्रकाश करता है, उसका नाम महाकाल भैरव है। परा संवित् यहाँ महाकालीरूप में प्रकाशित होती है। महाकाल भैरव पञ्चकृत्य का सम्पादन करते हैं, अवश्य ही निरपेक्ष भाव से नहीं, क्योंकि वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं। जिनकी इच्छा से ये सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों का सम्पादन करतें हैं, वे स्वयं जगदम्बा हैं। इस अवस्था में इस परमतेज के गर्भ में सभी प्रकार की परिच्छिन्न अहन्ता एवं शून्यगत अहन्ता सब इस महाग्नि में दग्ध हो जाती हैं; एकमात्र विश्व के साथ अभेदमय पूर्ण अहन्ता विद्यमान रहती है। योगी इस अवस्था में आने पर परमशिव की भाँति पञ्चकृत्यकारी हो जाते हैं। अवश्य ही परमशिव के पञ्चकृत्य इस अवस्था में व्यापिनी कला में प्रकाशित होते हैं, ऐसा बहुत से-लोग कहते हैं। इसके पश्चात् महाकालभैरव भी नहीं रहते—यह महाभैरव की अवस्था है। यह महाकाल के अतीत है। इस स्थिति में सब कुछ शान्त है, किसी का संस्कार तक नहीं रहता। जो स्वात्मसंवेदन क्रमशः अधिकाधिक परिस्फुट होते-होते विकास पा रहा था, यहाँ वह पूर्ण हो जाता है। तब महाकाली भगवती भी अपने धाम या अकूल में प्रविष्ट होने के लिये उन्मुख होती हैं, इसीलिये यह काल द्वारा कलित अवस्था नहीं है। इस अवस्था में योगी व्यापिनी के पार समना भूमि में प्रविष्ट हुए हैं, ऐसा कहा जा सकता है। तब सृष्टि-संहार रूप काल नहीं रहता, साम्यरूप काल रहता है। तब काल की सत्ता मानो नहीं के समान ही प्रतीत होती है। इस अवस्था में अनन्त काल क्षणमात्र प्रतीत होता है। इस अवस्था की बात ही उत्पलाचार्य ने इस कारिका में कही है—

> "न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
> तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा॥"

इसके बाद जो अवस्था है, वही क्रमविकास का अन्तिम स्वरूप है—यह परमशिव की अवस्था। यहाँ परासंविद् देवी के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। देवी पूर्णरूपा व कृशरूपा एक साथ दोनों ही हैं। ये अघटन-घटन-घटीयसी हैं। जब ये स्वाश्रित देवीगणों का उदय करती हैं, प्रमाता-प्रमाण प्रभृति समस्त पदों का और सृष्टि आदि समस्त चक्रों का विकास

करती हैं, तब ये पूर्ण हैं; और जब ये इन सबको अपने स्वरूप में लीन कर लेती हैं, केवल एक ही काल संकर्षिणी नामक चक्र अवशिष्ट रहता है, तब ये कृशानाम से अभिहित होती हैं।

इस परम स्थिति में क्रम नहीं रहता, यौगपद्य भी नहीं रहता, क्रम-अक्रम का कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता। क्रमविज्ञान में देवी का क्रमविकास होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विकास के फलस्वरूप प्रमेयादि क्रमशः स्वात्मसंवित्ति रूप में भासते रहते हैं।

यही जीव का पूर्णत्वलाभ है। जो अखण्ड स्वातन्त्र्यमय बोधरूपी सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्म या परमशिव आगमशास्त्र में जीव की आत्मसाधना के चरम लक्ष्य के रूप में वर्णित हुए हैं, यह वही अवस्था है। महास्थिति में सब ही रहता है, अथच कुछ भी नहीं रहता, एवं इस रहने व न रहने का विरोध भी नहीं रहता। सुतरां जीव, जगत् व ईश्वर सभी उस परम स्वरूप अद्वयरूप में प्रकाशमान होने पर भी उनका अपना-अपना वैशिष्ट्य भी वहाँ अक्षुण्ण रहता है। इस अवस्था में परम प्रकाश अखण्ड होने से समस्त अवान्तर भेद इसके साथ अभिन्न रूप में प्रकाशित होते हैं; जीव के अनादि काल की त्रिताप-ज्वाला इस पूर्णत्व में अवगाहन करने के बाद चिरकाल के लिए शान्त हो जाता है। वस्तुतः यही परमपद है।

अगस्त्य (नवमी शती ई०) जावा के चण्डी बनान म प्राप्त मूर्ति

अगस्त्य-कथा एवं दक्षिण भारत तथा दक्षिणपूर्व एशिया में अगस्त्योपासना

रामकृष्ण द्विवेदी

सम्पूर्ण दक्षिणपूर्व एशिया में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार भारतीय इतिहास का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है। कई अर्थों में यह विश्व इतिहास का भी एक रोमांचक एवं संघटनायुक्त युग कहा जा सकता है। जिस प्रकार विशुद्ध यूनानी सभ्यता एवं प्राच्य संस्कृतियों तथा विभिन्न जातियों एवं वंशों के रक्त सम्मिश्रण से एक विशिष्ट हेलेनिस्टिक सभ्यता का उत्कर्ष हुआ था,[१] ठीक उसी प्रकार प्राचीनकाल में विशुद्ध भारतीय सभ्यता एवं दक्षिणपूर्व एशिया की क्षेत्रीय एवं जातीय संस्कृतियों में पारस्परिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप एक नूतन सभ्यता एवं संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे हम विभिन्न नामों यथा—बृहत्तर भारत या इन्सुल-इण्डिया की संस्कृति या दक्षिण पूर्व एशिया के भारतीय उपनिवेशीकरण द्वारा जनित संस्कृति की संज्ञा देते हैं।[२]

दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय सभ्यता के प्रसार की प्रक्रिया रक्त-रंजित नहीं थी।[३] प्रारम्भ में धार्मिक और व्यापारिक स्वार्थों को लेकर भारतीयों ने समुद्र-पार इन दूरस्थ देशों की यात्रा की। अवसर मिलने पर इन भारतीय वंशजों ने अपना राजनयिक प्रभाव स्थापित करने में भी कोई प्रयत्न शेष नहीं रखा।

---

१. टार्न, 'हेलेनिस्टिक सिविलिजेशन' लन्दन, १९५९ : तृतीय संस्करण : पृ० १-२ वान सिकिल ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आव द एन्श्येण्ट वर्ल्ड (१९४८), भाग २-पृ० १२९, १४३।

२. वास्तव में उक्त सभी नाम भारतीय सभ्यता के प्रसार को व्यक्त करने के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं, और इसीलिए ये अपनाम हैं। बृहत्तर भारत प्रयोग के पीछे भारत का एक भौगोलिक प्रसार व्यक्त होता है जबकि यथार्थतः यह कोई पूर्वायोजित प्रसार नहीं था। यह सांस्कृतिक सम्मिश्रण की एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी जिसका परिणाम, प्रसार एवं विस्तार था—मूल उद्देश्य नहीं। यह सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया थी। उपनिवेशीकरण कभी भी भारतीय इतिहास का मूल मन्त्र नहीं बन सका। द० पू० एशिया में भारतीय सभ्यता के प्रवेश एवं विस्तार की प्रक्रिया आदि से ही उपनिवेशवादी नहीं थी। धार्मिक, व्यापारिक और बाद में राजनैतिक प्रभावों के माध्यम से वहां की स्वदेशी संस्कृतियों तथा भारतीय सभ्यता में व्यापक स्तर पर एक सम्मिश्रण हुआ।

भारतीयों की इन यात्राओं के क्रान्तिद्रष्टा संभवतः अगस्त्य थे। अगस्त्य ऋषि न केवल समुद्री पर्यटन के प्रचेता थे वरन् वह आर्य संस्कृति के प्रसार के लिए भी समानरूप से उत्तरदायी थे। भारतभूमि पर आर्य अपने प्रसार क्रम में संभवतः संचयशील जातियों के संपर्क में आए, जिनमें भारत की मूल जातियां नाग-निषाद प्रमुख थे। नूतन सम्पर्क से नूतन समस्याओं एवं समाधानों की आवश्यकता पड़ी। ऐसी परिस्थिति में आयों ने ही समाज को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करनेवाले तथा युग-बोध करानेवाले ऐसे अनेक ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ जिनकी विशुद्ध आर्य उत्पत्ति के विषय में सहज ही सन्देह उत्पन्न होता है। इस प्रकार के एक ऋषि वशिष्ठ थे जिन्हें मित्र-वरुण का पुत्र और उर्वशी४ के मन से उत्पन्न बताया गया है। स्पष्टतः उनकी माता का उल्लेख नहीं है। उनकी उत्पत्ति अप्सरा से भी बतलाई गई है।५ वशिष्ठ की उत्पत्ति एक पुष्कर या कुम्भ से हुयी थी, जिसमें दोनों देवताओं, मित्र-वरुण का स्खलित वीर्य संचित किया गया था। 'देवता' या 'देवकन्या' से उत्पन्न होने का मतलब यही है कि पीछे के लोगों को वशिष्ठ का नाम नहीं मालूम था।६ स्पष्टतः वशिष्ठ किसी आर्य-पूर्व मातृपूजक वर्ग की महिला से उत्पन्न हुए थे और इस प्रकार उनकी शुद्ध आर्य उत्पत्ति नहीं थी।७ पितृ प्रधान आर्यों के समाज में जाने के लिए उन्हें किसी सम्माननीय पिता की आवश्यकता थी तथा साथ ही उन्हें अपनी अनार्य माता का उल्लेख भी वांछनीय नहीं था।८ इसीलिए उन्हें मित्र-वरुण से, उर्वशी एवं अप्सरा से उत्पन्न बतलाया गया है। वशिष्ठ सुदास के पुरोहित थे जबकि उसके वंशानुगत पुरोहित भारद्वाज थे। नूतन एवं अज्ञात वंश (अनार्य) परम्परावाले वशिष्ठ का सुदास द्वारा पुरोहित के रूप में वरण एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। भरतों के प्रताप बढ़ाने में वशिष्ठ का महत्त्वपूर्ण योगदान था।९ वशिष्ठ ने यमुना के पार रहनेवाले अनार्य एवं लिंग पूजक कबीलों यथा—भेद, अज, शिग्र एवं यक्षुओं को पराजित करने में सुदास की सहायता की थी।१०

---

३. डी० डी० कोसाम्बी, 'द कल्चर एण्ड सिविलिजेशन आव एंश्येण्ट इण्डिया लन्दन १९६५, पृ० ९७।

४. ऋग्वेद ७।३३।११ 'उतासि मैत्रावरुणोवशिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसो धिजातः द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त.'।

५. ऋग्वेद ७।३३।१२। ६. राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वैदिक आर्य, पृ० ६५।

७. डी० डी० कोसाम्बी, द कल्चर एंड सिविलिजेशन आव एन्श्येण्ट इंडिया, पृ० ८३।

८. वही, पृ० ८३। ९. ऋग्वेद ७।३३।६।

१०. ऋग्वेद ७।१८।१९ ; ७।२१।५।

वशिष्ठ की ही भांति एक अन्य ऋषि अगस्त्य थे। अगस्त्य को वशिष्ठ का सहोदर बताया जाता है।११ ये भी मित्र-वरुण के पुत्र थे। परवर्ती साहित्य में अगस्त्य को 'कुम्भज' या 'घट योनि' कहा गया है।१२ यद्यपि स्पष्टतः वैदिक साहित्य में अगस्त्य को कुम्भज कहीं नहीं कहा गया है, किन्तु मित्रावरुण का पुत्र एवं वशिष्ठ का सहोदर होने के कारण परोक्षभाव से उनकी कुम्भ से उत्पत्ति मानी जा सकती है। संभवतः पुराणों में इसीलिए अगस्त्य को स्पष्टतः घटयोनि या कुम्भज कहा गया है। चूंकि वशिष्ठ मित्रावरुण के स्खलित वीर्य के कुम्भ (पुष्कर) में संचित किए जाने से उत्पन्न हुए थे और वेद में अगस्त्य को वशिष्ठ का सहोदर बतलाया गया है, इसलिए कुम्भ से अगस्त्य की उत्पत्ति सर्वथा तर्कसंगत है। वस्तुतः कुम्भ गर्भ का प्रतीक है और फलतः यह 'गर्भ' किसी मातृ का वाचक।१३ आर्यों के प्रवर पुरोहित के रूप में इस प्रकार के अनेक कुम्भज ऋषियों की परिकल्पना परवर्ती आर्यों की एक मौलिक उद्भावना थी।१४ आर्यों एवं स्वस्थानिक जातियों के सम्मिश्रण से एक नये पुरोहित वर्ग का जन्म हुआ था जो सम्पूर्ण आर्य कर्मकाण्ड का जन्मदाता था और कालान्तर में जिसने धर्म पर अपनी एकस्विता स्थापित कर ली थी। इनकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि आर्येतर, आर्य विरोधी कबीलों तथा उनके अनेक नए सम्प्रदायों का आर्य-संस्कृति के साथ समन्वय थी, जो बाद में समान देवताओं की उपासना करनेवाले एक नए समाज के रूप में विकसित हुई। यह उल्लेखनीय है कि वशिष्ठ एवं अगस्त्य दोनों ही (Exogamous Clan) गोत्रान्तर या बहिर्जातीय विवाह से जनित कबीले के प्रवर्तक थे।

अगस्त्य की कहानी केवल ऋग्वेद में ही नहीं मिलती। अगस्त्य-कथा की परम्परा के विकास की कहानी ऋग्वेद से लेकर *मध्ययुग* की अन्तिम सीमा, और यत्र-तत्र आधुनिक साहित्य में भी प्राप्त होती है। अपनी प्रसिद्धि के उषस् काल में, विशेषतः ऋग्वेद में अगस्त्य अधिक महत्त्वपूर्ण ऋषि नहीं प्रतीत होते। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में उन्होंने केवल छब्बीस सूक्त लिखे हैं।१५ इस प्रकार ऋग्वेदिक सूक्तकारों में उनका सातवां स्थान है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाली अगस्त्य विषयक बातें उनके परवर्ती स्वरूप तथा उपलब्धियों से अधिकांशतः भिन्न हैं।

---

११. वही, ७।३३।१० ; राहुल सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, पृ० ६२।

१२. भा० पुराण, १८-५।

१३. डी० डी० कोसम्बी, 'कल्चर एण्ड सिविलिजेशन आव एन्श्येन्ट इन्डिया, पृ० ८३।

१४. वही, पृ० ८३। १५. ऋग्वेद, १।१६५-१९१।

अगस्त्य विषयक पौराणिक कथाओं का लेश भी हमें ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता।१६ अपने सहोदर वसिष्ठ का नामोल्लेख न करना किन्तु अपनी कामाधीरा पत्नी लोपामुद्रा का विवशतापूर्ण उल्लेख,१७ आर्यों की पशुपाल सभ्यता के कुछ खाद्यान्त, यथा, करम्भ (शक्तु) जिसे औषधि रूप कहा गया है और जिससे पोषक और दृढ़ होने की प्रार्थना की गयी है१८, तथा कुछ अन्य कुस्वादु कैरीतुल्य तृण, यथा—शर, कुशार, दर्भ और मूंठा१९ आदि का वर्णन ऋग्वेद की अगस्त्य कथा में मिलता है। एक सूक्त में वातापि (?) से भी स्थूल होने की प्रार्थना की गयी है।२० अगस्त्य कथा के कुछ परवर्ती रूप, यथा उनका विन्ध्य के पार दक्षिण में जाना, समुद्रपान, उनका पर्वतों का गुरु होना आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनकी उत्पत्ति ऋग्वेदिक अगस्त्य की कहानी में प्राप्त नहीं होती। उनका दक्षिणापथ नो जाना दूर रहा, ऋग्वेद में उन्हें सप्तसिन्धु निवासी पांच आर्यजनों के योगक्षेम का शुभेच्छु बतलाया गया है।२१ इस प्रकार ऋग्वेद में अगस्त्य न तो विन्ध्य के पार गए हैं, और न उसकी आवश्यकता ही थी। ऋग्वेदिक अगस्त्य के लिए विन्ध्य के दक्षिण में जाने से पूर्व यमुना-गंगा की हरित एवं उर्वर घाटी में प्रवेश एवं प्रसार करना न केवल तात्कालिकक आवश्यकता ही वरन् उपयोगी भी था। वस्तुतः ऋग्वेद के भौगोलिक क्षितिज में अगस्त्य का विन्ध्य पार जाना एक तर्कहीन एवं हास्यास्पद कहानी प्रतीत होगी। ऋग्वेदिक आर्यों का प्रसार केवल सप्तसिन्धु में ही था, यह प्रायः एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य है। वातापि का नामोल्लेख तो ऋग्वेद में मिलता है, किन्तु उत्तरकालीन कथा के सन्दर्भ में ऋग्वेदिक वातापि का क्या महत्त्व था, कहना मुश्किल है।

पुराणों में हमें अगस्त्य कथा का एक परिवर्तित एवं उप बृंहित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन राजाओं, पुरोहितों, ऋषियों एवं अन्य प्रतिभाओं से संबंधित कथाओं को तोड़ मरोड़ कर देशकाल की नूतन परिस्थियों के अनुरूप ढालने की एक प्रवृत्ति हमें पुराण-साहित्य में सामान्यतः प्राप्त होती है। अगस्त्य की यह कथा भी इससे वंचित न रह सकी। भागवत् पुराण२२ में अगस्त्य को मलय पर्वत का निवासी बतलाया गया है। वह अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ वहां रहते थे। उनके चार हाथ थे। उनके जन्म के विषय में वैदिक

---

१६. रा० सांकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, पृष्ठ ७२। १७. ऋग्वेद, १।१७९।४।

१८. वही, १।१८७।१०।

१९. वहीं, १।१९१।३।

२०. वही, १८७।१०।

२१. वही, १।१७६।३।

२२. भागवद् पुराण, X, ७९।१७।

युग से चली आने वाली कथाओं का अपरिवर्तित स्वरूप हमें दिखलाई पड़ता है।२३ वशिष्ठ को इसमें भी अगस्त्य का सहोदर बतलाया गया है।२४ विन्ध्य को विनत करने की कहानी का भी उल्लेख हमें पुराणों में प्राप्त होता है। तारक एवं अन्य असुरों से उत्पीड़ित देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने समुद्र शोषण किया।२५ यहां देवताओं को पीड़ित करनेवाले असुर कालेयक नहीं वरन् तारक और अन्य असुर थे। वह इल्वक के अतिथि थे, जिसने उनके आतिथ्य में अपने अनुज वातापि को मारकर उसका मांस खिलाया था।२६ अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ मलय कूट पर अगस्त्य को तपस्या, उनके चतुर्भुज स्वरूप आदि का वर्णन भी पुराणों में हुआ है।२७ इसके साथ ही साथ अगस्त्य से संबंधित पर्वतों२८, आश्रमों२९ एवं भवनों३० और सरोवरों३१ आदि के वर्णन प्रायः हमें पुराणों में प्राप्त होते हैं।

स्कन्द पुराण में भी, जिसकी रचना अपेक्षाकृत अधिक बाद की है, अगस्त्य कथा का एक उपबृंहित स्वरूप प्राप्त होता है। स्कन्दपुराण में वर्णित अगस्त्य कथा के कुछ रूप — यथा लोपामुद्रा से विवाह३२ तथा विन्ध्य पर्वत का झुकना३३ आदि सामान्य प्रसंग हैं। वह मित्रावरुण के पुत्र थे।३४

इस प्रकार हम देखते हैं कि संपूर्ण-पौराणि साहित्य में अगस्त्य-कथा में प्रायः तोड़ मरोड़ की गई है। किसो विशेष प्रसंग के साथ उसकी अनुकूलता लाने के लिए उसे बढ़ाया घटाया

---

२३. वही, VI १८-५ ; ब्रह्माण्ड पुराण, IV ५-३८ मत्स्य, ६१-२१-३१ ; २०१-२९ ; २०२-१।

२४. वही, VI १८-५।

२५. वही, VI ३-३५ ; मत्स्य पुराण, ६१-१७ ; ३६-४१ ; ब्रह्माण्ड पुराण III ५६-५३।

२६. भागवत, VI १८-१५।

२७. भागवत VI ३-३५ ; मत्स्य ६१-१७, ३६-४१ ; ब्रह्मा० पु० III ५६-५३।

२८. मत्स्य पुराण, १२४-९७। २९. वही, १६३, ७४।

३०. वही, १९१-१५-१८ X ; महाभारत (पूना सं) III ९७, २६।

३१. वायु पुराण, १०८-४५। इसमें उदयन्तक पर्वत पर स्थित अगस्त कुण्ड का वर्णन किया गया है। स्कन्द पुराण, III, काशी खण्ड, अध्याय ३, १-१०७ में अगस्त्याश्रम का उल्लेख प्राप्त होता है।

३२. स्कन्दपुराण, व्यंकटेश्वर प्रेस बम्बई, काशी खण्ड, अध्याय ४।

३३. वही, काशी खण्ड, अध्याय ५।५३-५५।

३४. वही, V, ८७।

गया है। भागवत पुराण में अगस्त्य के चतुर्भुज स्वरूप तथा मत्स्य पुराण[३५] में उनकी उपासना का उल्लेख मिलता है यहां अगस्त्योपासना के परिप्रेक्ष्य में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुराणों के पश्चात् उप पुराणों में भी अगस्त्य कथा के बीज मिलते हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में,[३६] जिसकी रचना ४०० से ६०० ई० के मध्य हुई थी[३७], भी अगस्त्य की कथा प्राप्त होती है[३८]। यह मुख्यतः एक मुख्य वैष्णव उपपुराण है तथा इसमें अगस्त्य की कथा का उल्लेख राम के प्रसंग में हुआ है। इसमें समुद्र में छिपे हुए राक्षसों की खोज के लिए अगस्त्य द्वारा समुद्रपान, सूर्य-चन्द्र के पथ को अवरुद्ध करनेवाले विन्ध्याचल को झुकने तक आदेश देना, वातापिन् को पूर्णतः हजम करने एवं राम-लक्ष्मण की वाणों को अजेय वैष्णव तेजस् प्रदान करने की कहानी का वर्णन प्राप्त होता है।

दूसरा प्रमुख एवं प्राचीन वैष्णव उप पुराण नरसिंह पुराण[३९] है, जिसका रचनाकाल ४००-५०० ई० के उत्तरार्ध में होने की प्रबल संभावना है[४०]। इस ग्रंथ में मित्र-वरुण और उर्वशी से अगस्त्य एवं वसिष्ठ की उत्पत्ति बतलाई गई है। वरुण ने उर्वशी को कुरुक्षेत्र के वन में पुण्डरीक नामक सरोवर में देखा था।[४१] इसके साथ ही इस पुराण में भी अगस्त्य को रामकथा से सम्बन्धित बतलाया गया है। राम ने रावण से युद्ध करने के पूर्व अगस्त्य द्वारा प्रदत्त आदित्य-हृदय नामक मन्त्र का उच्चारण किया था।[४२]

रामायण में भी अगस्त्य-कथा प्रायः अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में दृष्टिगत होती है।

---

३५. मत्स्य पुराण, ६१-४४-४५, जो अगस्त्य की पूजा करता है, वह सातों संसार का अधिपति होता है।

३६. वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।

३७. आर० सी० हाजरा, 'स्टडीज् इन द उपपुराणाज्' भाग-१, पृ० २०६ एवं २१० (कलकत्ता १९५८)।

३८. विष्णु धर्मोत्तर पुराण २१३-२१५।

३९. उद्धवाचार्य द्वारा संपादित एवं गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी, बम्बई द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण, १९११।

४०. आर० सी० हाजरा, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ० २४०-२४२।

४१. नरसिंह पुराण, अध्याय ६। डा० आर० सी० हाजरा ने इस पूरे अध्याय को बाद में प्रक्षिप्त माना है। तु० की०, 'स्टडीज् इन द उपपुराणाज्', पृ० २५२।

४२. वही, अध्याय ५२, ९६-९०।

इसमें उन्हें 'अगस्ति'४३ कहा गया है तथा दक्षिण में रहनेवाला ऋषि बतलाया गया है। महाकाव्यों के देवमण्डल में ऋषियों की स्थिति सदैव द्विविधाजनक ही रही है। एक ओर तो वे पितृ या कुल संस्थापक पितामह माने जाते थे, दूसरी ओर उन्हें देवताओं के रूप में भी मान्यता मिलती रही है।४४ प्रायः उन्हें अग्निदेव या तारों के रूप में मानकर गौरवान्वित किया गया है। इस प्रकार अगस्त्य आकाश में अगस्त्य तारे (canopus Star) के नाम से प्रतिष्ठित हैं।४५ मित्रावरुण का पुत्र होने के कारण वशिष्ठ के सहोदर थे। कथा के इस भाग के बीज हमें ऋग्वेद में मिलते हैं।४६ उन्हें कुम्भज या कुम्भ-संभव कहा गया है।४७ लोपामुद्रा के लिए आभूषणों की मांग पर इल्वक ने उन्हें अपना अनुज वातापि खाने को दिया।४८ कालेय असुरों को पृथ्वी से निर्मूल करने की 'लोकभावना' से उन्होंने समुद्रपान किया४९ दक्षिण में जाते समय (रामायण के अनुसार दक्षिण-विजय करते समय५०) उन्होंने विन्ध्य को झुकने का आदेश दिया। रामायण में उनका संबंध राम से है। राम उनके पास गए ५१ तथा उनको अगस्त्य ने शस्त्र दिए।५२ हरिवंश५३ एवं रामायण५४ में अगस्त्य का आवास कुंजर बतलाया है। रामायण में ही उनका आश्रम गोदावरी तट पर रामगिरि के समीप तथा मलय पर स्थित बतलाया गया है।५५ रामायण में रामकथा के सन्दर्भ में अगस्त्य एवं उनके भाई शरभंग ऋषि का उल्लेख है।५६ अग्निवेश द्रोण के गुरु थे, अग्निवेश स्वयं भारद्वाज के शिष्य।५७ एक अन्य स्थान पर अग्निवेश को अगस्त्य का शिष्य

---

४३. रामायण ३।११।४०-४१, ५५-६७।

४४. हापकिन्स, एपिक माइथालोजी, पृ० १७६।

४५. वही, पृ० १८५ ; अगस्त्य ऋषि दक्षिण के सप्तर्षियों के मण्डल में प्रमुख हैं। यह उत्तर के सप्तर्षि-मण्डल के ऋषियों को अन्य दिशाओं में ले जाने की एक प्रवृत्ति थी। पृ० ११६

४६. तु० की० ऋग्वेद, ७।३३।१०।

४७. महाभारत, (पूना सं), III ९६, २, कुम्भयोनिमुपागमत्।

४८. वही, III ९७, ६-७ ; रामायण ३।११।५७।

४९. महाभारत, (पूना सं) III, १०३, १३७। ५०. रामायण, ६।११८, १४।

५१. रामायण, ३-११-३३। ५२. वही, ६-१११-४।

५३. हरिवंश, १५-८४-५। ५४. रामायण, ४-४१-३५।

५५. वही, ३-११-३९ ; ४-४१-१६, ६-१२६, ४१।

५६. वही, ३-११-२९ और आगे।

५७. महाभारत, (पूना सं०), I १२१, ६।

बतलाया गया है।५८ हम आगे बतएंगे कि दक्षिणपूर्व एशिया में द्रोण एवं अगस्त्य की परम्पराओं में किस प्रकार के ताल मेल किए गए हैं।५९ वरुण-पुत्र अगस्त्य ने समुद्र में छिपे हुए कालेय असुरों की खोज के लिए ६० समुद्रपान किया। कालेय वृत्र के समर्थक थे, जो वरुण का शत्रु था। वरुण पुत्र अगस्त्य ने इनको पराजित किया था।६१ वातापि को भी प्रह्लाद के गोत्र का बतलाया गया है।६२ अगस्त्य एवं लोपामुद्रा का विवाह बहिर्विवाह का एक अन्यतम प्रमाण है। वस्तुतः विदर्भ (आधुनिक बरार) की राजकुमारी लोपामुद्रा६३ का अगस्त्य से विवाह, अगस्त्य के दक्षिणी भारत में जाने एवं आर्य संस्कृति के प्रचार करने से घनिष्ट रूप से संबंधित है। महाकाव्य में बिन्ध्य के पार जाने का भी उल्लेख किया गया है।६४

इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अगस्त्य कथा का प्रवाह अनवरत रूप से पूर्व एवं उत्तर-मध्यकाल में चलता रहा। ब्रह्म पुराण६४ (९००-१००० ई०) कम्ब रामायण६५ (तमिल भाषा में १०००-१२०० ई०), योगवासिष्ठ६६ (८०० या ११००-१२०० ई० (?)) आनन्द रामायण६७, शिवपुराण६८ (१३००-१४०० ई०)

---

५८. महाभारत, १-१३९, ९ और आगे, (पूना सं०) ५९. आगे पृ० पर देखिए।

६०. महाभारत III १०३, १-३ (पूना सं०)

६१. वही, (पूना सं०), III १०३, ११-१४।

६२. महाभारत (पूना सं०) III ९७-२६ 'प्रह्लादिरेव वातापिगस्त्येन विनाशितः' किन्तु महाभारत की कुछ पाण्डुलिपियों यथा S_1, K_2, G_1, ३, और M में वातापि को प्रह्लादिः' और T_1, G_2 ये 'प्रह्लादिः' कहा गया है। K_3 में प्रह्लादिः पाठ है।

६३. वही, III ९५-७ ; III ९३-२-१२ (पूना)

६४. वही १०२-११-१३ (पूना सं०) ६५. ब्रह्म पुराण, अध्याय ८४।

६५. कम्ब रामायण ३-३ इसमें अगस्त्य को मधुर तमिल भाषा का प्रवर्तक माना गया है।

६६. योगवासिष्ठ में अगस्त्य सुतीक्ष्ण की शिक्षा के लिए वाल्मीकि-अरिष्टनेमि संवाद दुहराते हैं।

६७. आनन्द रामायण, १, १०, २१५-२१९ अगस्त्य शुक नामक ब्राह्मण के यहां गए जहां उसने उन्हें मांस खिलाया था।

६८. शिवपुराण (वेंकटेश्वर प्रेस) ३, ५३,-५५ ; इसमें अगस्त्य ने राम को रावण की हत्या करने के लिए शिव की शरण लेने तथा उनकी उपासना करने को कहा है।

उन्मत्त राघव६९ (१४०० ई०), सरलादास कृत उड़िया महाभारत७० (१४००-१५०० ई०) कृत्तिवास रामायण७१ (१४००-१५००) हनुमत्संहिता७२ (१५००-१६०० ई०) तथा तोरवे रामायण७३ (१५००-१६०० ई०) में अगस्त्य के कथा के विविध, विकृत, उपबृंहित एवं परिवर्तित स्वरूप प्राप्त होते हैं। स्पष्टतः इन ग्रन्थों में अगस्त्य की प्राचीन एवं मूल परम्परा विशेषतः विन्ध्य के पार जाने, समुद्र शोषण, लोपामुद्रा से विवाह तथा कालेय दानवों की कथायें अपने क्रमिक रूप से नहीं मिलती हैं। इसके विपरीत प्रायः उक्त सभी ग्रन्थों में अगस्त्य या उनके आश्रम को अनिवार्यतः दक्षिणभारत में स्थित बतलाया गया है। राम अपने बनवास में दक्षिण में उनसे मिले, उनके आश्रम पर गए तथा उनसे शस्त्रास्त्र की प्राप्ति भी की। अनिवार्यतः इन मध्ययुगीन ग्रन्थों में अगस्त्य की कहानी राम-कथा के साथ घुल मिल कर केवल अपने अङ्गीभूत स्वरूप में मिलती है। इन ग्रन्थों में वस्तुतः अगस्त्य परम्परा निष्प्राण हो गयी है, केवल उसकी एक क्षीण स्मृति ग्रंथकारों के मस्तिष्क में दृष्टिगत होती है, जिसका उपयोग रामकथा को आगे बढ़ाने के लिए सुविधानुसार किया गया है।

भारतीय वाङ्मय में अगस्त्य को दो प्रधान उपलब्धियां बतलाई गई हैं···प्रथम विन्ध्य के दक्षिण में आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार और दूसरा संभवतः इस उद्देश्य को पूर्णत्व प्रदान करने के पश्चात् समुद्र के पार स्थित द्वीपों एवं देशों में आर्य सभ्यता का प्रसार। अगस्त्य की प्रथम उपलब्धि से संबंधित साक्ष्य अनुश्रुतियों एवं देवाख्यानों (Myths) के रूप में भारतीय वाङ्मय में बिखरे पड़े हैं। इन आख्यानों में अगस्त्य के इस ऐतिहासिक कार्य की झलक मिलती है। हाल्टशमान ने उन्हें विन्ध्य के दक्षिण में जानेवाला प्रथम आर्य

६९. उन्मत्त राघव (ले० भास्कर भट्ट) निर्णसागर प्रेस, १९२५। इसमें अगस्त्य की सहायता से सीता की खोज करने की बात का उल्लेख है।

७०. सरलादास कृत उड़िया महाभारत, कटक १९५२, में अगस्त्य ने विलंका के राजा को रामकहानी सुनाई थी।

७१. कृत्तिवास रामायण (बंगला) ७, २ में इन्द्रजित को मारने के लिए अगस्त्य राम का संवाद हुआ है।

७२. हनुमत्संहिता या महारासोत्सव, लखनऊ १९०४ में हनुमान-अगस्त्य संवाद के रूप में सरयू तट पर राम की रामलीला का वर्णन किया गया है।

७३. तोरवे रामायण (कन्नड़) ६-५१ में अगस्त्य ने राम को त्रिमूर्ति नामक बाण दिया था और रामने उसी बाण से रावण को मारा।

विजेता माना है।७४ उनकी दूसरी उपलब्धि विषयक प्रमाण दक्षिण-पूर्व-एशिया से प्राप्त कई अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। वहाँ पर अगस्त्य के इन कार्यों की एक धूमिल एवं क्षीण रेखा उनकी जीवन्त स्मृति में सुरक्षित है। दक्षिण पूर्व एशिया में उनके कार्य का एक रुचिर संस्मरण उनको पूजा में सुरक्षित है। महर्षि अगस्त्य की प्रतिष्ठा एक देवता के रूप में दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपों में की गई और उनकी पूजा के निमित्त देवालय स्थापित किए गए। अगस्त्य विषयक अनुश्रुतियों में निश्चय ही सुदूर-अतीत में दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व की ओर आर्य संस्कृति के सुदूर देशों में प्रवेश, प्रचार एवं प्रसार की एक विस्मृत गूंज प्रतिध्वनित होती है। इस परिप्रेक्ष्य में अगस्त्य ऋषि से संबंधित परंपराओं की एक ऐतिहासिक व्याख्या सम्भव प्रतीत होती है। यहाँ पर हमारा उद्देश्य अगस्त्य परक अनुश्रुतियों की भारत के सन्दर्भ में एक ऐतिहासिक विवेचना प्रस्तुत करने का है। साथ ही हम अगस्त्य के उस स्वरूप का भी विवेचन करेंगे जो उनको दक्षिण पूर्व एशिया में देवत्व प्रदान करने के लिए मूल रूप से उत्तरदायी कहा जा सकता है। अगस्त्य परक परम्पराओं में उनको भारत में ऋषित्व से दक्षिण पूर्व एशिया में देवत्व प्रदान करने तक की एक लम्बी कहानी है, जिसमें सुदूर अतीत में आर्य संस्कृति के प्रसार की धुंधली स्मृति अभी तक संजोयी हुई है। निश्चय ही यदि हम दक्षिण पूर्व एशिया में प्रचलित अगस्त्य-उपासना का भारत, विशेषतः दक्षिण भारत के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करें तब हमें अपने इतिहास के एक ऐसे विस्मृत पृष्ठ का पता चलता है, जिस पर समय एवं अतीत की परतें चढ़ चुकी हैं। किन्तु जैसे जैसे हम अगस्त्य परम्पराओं के विकास का क्रमिक अध्ययन करते हैं, वैसे वैसे इतिहास की परतें खुलती जाती हैं।

भारत में अगस्त्य केवल एक ऋषि के रूप में मान्यता एवं लोकप्रियता प्राप्त कर सके, वह भी एक ऐसे ऋषि के रूप में, जो पौराणिक रूप से कुम्भ से उत्पन्न होने के कारण 'कुम्भज' कहे गए, किन्तु वस्तुतः जो ऋग्वेद में मन्त्रों एवं सूक्तों के प्रणेता थे।७५ उन्होंने गार्हस्थ्य एवं तपश्चर्या दोनों ही धर्मों को अपने व्यक्तित्व में पूर्णतः समाहित कर रखा था। अतएव केवल उनके पौराणिक प्रसव को छोड़कर निश्चय ही उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में ऐतिहासिकता परिलक्षित होती है।७६ यह पूर्णतः एक दूसरी वस्तु है कि वह एक ऐतिहासिक 'व्यक्ति' न होकर ऐतिहासिक ऋषि थे।

---

७४. जेड० डी० एम०-जी, १८८०, भाग ३४, पृ० ५९६।

७५. ऋग्वेद, वैदिक इण्डेक्स।

७६. द वैदिक एज, (के० एम० मुंशी द्वारा सम्पादित) पृ० २८८।

भारत की समन्वित संस्कृति के उत्कृष्ट काव्य महाभारत में अगस्त्य परम्परा का और अधिक विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। इन कथाओं में अगस्त्य का दक्षिण-भारत से सम्बन्ध और अधिक निखरा हुआ प्रतीत होता है। महाभारत में अगस्त्य कथा के विश्लेषण से हमें उसके तीन विशिष्ट पक्ष दिखलायी पड़ते हैं :—

१. विदर्भ (आधुनिक बरार) की राजकुमारी लोपामुद्रा के साथ अगस्त्य का विवाह। लोपामुद्रा द्वारा अधिकाधिक अलंकारों एवं ऐश्वर्यपरक प्रसाधनों की मांग जिसकी पूर्ति के लिए अगस्त्य की मनिमति के दैत्य राजा इल्वल से याचना।७७

२. समुद्र में छिपे हुए देवताओं के शत्रुओं के विनाश के लिए अगस्त्य द्वारा समुद्र का जल पिया जाना।७८

३. किसी अज्ञात उद्देश्य की पूर्ति के लिए अगस्त्य का दक्षिण भारत में जाना और विन्ध्य पर्वत को अपने लौटने के समय तक न बढ़ने का आदेश देना।७९

उक्त विश्लेषण के प्रथम एवं तृतीय सन्दर्भ से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि अगस्त्य ने न केवल दक्षिण भारत की यात्रा की वरन् वहां विदर्भ की राजकुमारी से अन्तर्जातीय विवाह भी किया।८० यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत अगस्त्य का कार्यक्षेत्र था, जन्मस्थान नहीं। इसी से दक्षिण भारत में अगस्त्य से संबंधित अनेक स्थानों की उपस्थिति का रहस्य समझ में आता है।८१ आर्य एवं आर्येतर वंशों के मध्य रक्त सम्मिश्रण की यह प्रक्रिया भारत की समन्वित संस्कृति का प्रसार इस प्रकार एक ओर तो शान्तिपूर्ण उपायों के माध्यम से और दूसरा विजय की अपेक्षा जातीय सम्मिश्रण से अधिक हुआ।८२ लोपामुद्रा की आर्थिक

---

७७. महाभारत (पूना से) III, ९५, III ९४; III ९६; III ९७, ६ ४ 'इल्वलो नाम दैतेय आसीत्कौरवेदनः। मणिमत्यां पुरि पुरा वातापिस्तस्य चानुजः'।

७८. वही (पूना सं०), III १०३, १-१४।

७९. वही (पूना सं०) III, १०२; १३।

८०. देखिए पृ० सं० ३।

८१. जेड० डी० एम० जी० १८८०, भाग ३४, पृ० ५८९-५९६ पर एडोल्फ हाल्टशमान का शोध पत्र 'डेर हीलिगे अगस्त्य नाख डेन एरजाइलुंगेन डेस महाभारत'। इस निबंध के अपेक्षित अंशों के भाषान्तर के लिए लेखक डा० एम० एन० दासगुप्त भूतपूर्व प्राध्यापक रूसी भाषा, प्रयाग विश्वविद्यालय का ऋणी है।

८२. द वैदिक एज, के० एम० मुंशी द्वारा सम्पादित पृ० ३१५; महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने इसे क्षत्रिय एवं ब्राह्मण जाति के मध्य का विवाह माना है।

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, आर्य राजाओं द्वारा पूर्णतः निराश किए जाने पर अगस्त्य मनिमति के दैत्यराज इल्वल के पास गए। इल्वल ने छद्म से आतिथ्य-सत्कार के बहाने ब्रह्मर्षि अगस्त्य की हत्या के लिए अपने भाई वातापि का मांस खिलाया। वातापि को जब इल्वल ने अगस्त्य का पेट चीरते हुए निकलने को कहा तब वातापि उनके उदर से नहीं निकल पाया। वातापि को अगस्त्य ने पूर्णतः पचा लिया था।८३ वातापि के अगस्त्य द्वारा पाचन की इस कथा में दक्षिण भारत की सभ्यता को हजम करने की घटना की एक जीवन्त स्मृति शेष रह गयी है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पश्चिमी दकन में वातापि नामक एक नगर सुरक्षित था, जिसे आजकल 'बादामी' कहते हैं और जो प्रारम्भिक चालुक्यों की राजधानी थी। सम्भव है वातापि को हजम करने की कहानी में दक्षिण भारत से अगस्त्य का प्रथम सांस्कृतिक संबंध व्यंजित होता हो।

दक्षिण भारत के संबंध में अगस्त्य की एक अन्य कथा भी महाभारत में है। अगस्त्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए दक्षिण की ओर गए और उन्होंने वर्धमान विन्ध्य पर्वत से अपने जाने के लिए मार्ग देने की याचना की थी। साथ ही उन्होंने इससे उस समय तक झुके रहने की प्रार्थना की जब तक वह वापस न लौट जाते। अगस्त्य नहीं लौट सके।८४ इस कहानी से भी अगस्त्य की दक्षिण में विन्ध्य पार की यात्रा का एक पौराणिक स्वरूप देखने को मिलता है।

रामायण८५ और महाभारत दोनों में ही अगस्त्य की दक्षिण भारत की यात्रा के संस्मरण दृष्टिगत होते हैं। दोनों में ही अगस्त्य आश्रम की चर्चा की गई है। राम ने लक्ष्मण को अगस्त्याश्रम का परिचय दिया था और महाभारत में लोमश ने युधिष्ठिर को अगस्त्याश्रम८६ के प्रति संकेत दिया था। रामायण में (बाद की पाण्डुलिपियों में) अगस्त्य से सम्बन्धित

---

८३. रामायण, अरण्य, ११, ५५, ५६।

८४. महाभारत, (पूना सं०), III १०२, १३, तु० की० अद्यापि दक्षिणाद्देशाद्वारुणिर्न निवर्तते।

८५. रामायण, अरण्य काण्ड ११, ५५-५६, इल्वल की कथा।

८६. महाभारत, ३, ९९, २९ तथा ३-१०३। प्रथम उल्लेख में अगस्त्याश्रम उस स्थान को कहा गया है जहां पर अगस्त्य के पुत्र 'दृढ़दस्यु' के कारण उनके पितरों को रुद्र लोक प्राप्त हुए थे। बाद वाले सन्दर्भ में अगस्त्य के आवास आश्रम का बोध होता है। तु० की, भागवतपुराण, ११-९५।

एक अन्य कहानी पढ़ने को मिलती है। अगस्त्य ने दण्डकारण्य का भू-संशोधन करके आवास के योग्य बनाया था। असुरों के ऊपर अगस्त्य की विजय के फलस्वरूप ही दण्डकारण्य आर्यों के सन्निवेश[८७] के रूप में बन सका। भार्गव द्वारा अभिशप्त होने के कारण विन्ध्य और सुदूर दक्कन के मध्यवर्ती एक हजार योजन का क्षेत्र आवास योग्य नहीं रह गया था। अगस्त्य ने वर्षा आदि के माध्यम से उसे आवास योग्य बनाया था। यद्यपि रामायण की यह कहानी स्पष्टतः बाद की है, किन्तु दक्षिण में यह न केवल आर्य संस्कृति के प्रवेश वरन् आर्यों के आवासों के प्रति भी संकेत करती है।

दक्षिण भारत में अगस्त्य विषयक इन पौराणिक गाथाओं की पुष्टि वहां पर उनके आश्रमों के रूप में प्रतिष्ठित अनेक स्थानों से होती है। वैसे तो अगस्त्य से संबंधित अनेक आश्रम हिमालय से कन्याकुमारी तक प्राप्त होते हैं,[८८] किन्तु पश्चिमी घाट के मलयकूट पर स्थित अगस्त्याश्रम सर्वाधिक विश्रुत है। महाभारत में अगस्त्य तीर्थ को दक्षिण समुद्र के निकट बतलाया गया है[८९] अगस्त्य तीर्थ का उल्लेख भी महाभारत में हुआ है, जिसका प्रत्यभिज्ञान मद्रास राज्य के तिन्नेवली जिले में स्थित अगस्त्य कूट से किया गया है।[९०] एक अन्य अगस्त्याश्रम नासिक से २४ मील दूर दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है।[९१] रामायण में रामचन्द्र जी शरभंग-सुतीक्ष्ण के आश्रमों में गए थे। यद्यपि याकोबी इन अंशों को प्रक्षिप्त मानते हैं।[९२] प्रायः मध्यकालीन साहित्य में अगस्त्य के आश्रमों का उल्लेख हुआ है।[९३] वस्तुतः अगस्त्य विषयक ये पौराणिक आख्यान अगस्त्य के ऐतिहासिक अस्तित्व पर आवृत प्रतीत होते हैं। अगस्त्य दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति के प्रथम प्रतिनिधि थे। वातापि को हजम एवं विदर्भ राजकुमारी से विवाह, दक्षिणी संस्कृतियों के अंगीकरण और आर्य के साथ जातीय सम्मिश्रण (Racial Intermixture) दो प्रक्रियायें थीं जिनका आश्रय अगस्त्य ने लिया था। कालान्तर में अगस्त्य के इस ऐतिहासिक व्यक्तित्व के ऊपर आख्यान की परत चढ़ गई। फलतः

---

८७. रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७९-८१।

८८. तु० की० ; अं० मं० ओ० रि० इ० भाग XLII १९६१, पृ० ३०।

८९. महाभारत, (बम्बई. सं०) १-१२५-३, ३-८२-४४ और ३-८८-१३ अगस्त्य सरोवर का उल्लेख करते हैं, जो प्रायः अगस्त्य तीर्थ ही है।

९०. वही।

९१. वही, ३-८७-२० ; ३-९६-१।

९२. याकोबी, डास रामायण, पृ० ।

९३. देखिए पृ० ९, पीछे।

अगस्त्य का लोकनायक (Hero) वाला रूप विस्मृत करके उनको एक ऋषि (Apostle) के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। अगस्त्य इस प्रक्रिया के अनंतर ऋषि, गुरु एवं तपस्विन बने। वस्तुतः यद्यपि अतीव चेष्टा के बाद भी वे केवल ऋषि या तपस्वी मात्र न रह सके। उनमें गार्हस्थ्य जीवन एवं लौकिक कार्य व्यापारों का एक अपूर्व मिश्रण देखने को मिलता है।

आदियुगीन तमिल वाङ्मय संगम साहित्य में न तो हमें अगस्त्य और न उनके कार्यों का ही वर्णन प्राप्त होता है। केवल एक स्थान पर उन्हें 'पोडिपिल का सन्त' कहा गया है। पोडिपिल पश्चिमी घाट का दक्षिणतम भाग है जिसे टालेमी (१७५ ई०) ने बेहिगो (Behigo) कहा है।९४ पोडिपिल के सन्त का प्रयोग Canopus तारे के लिए किया गया है। आठवीं नवीं शताब्दी के एक ग्रन्थ 'इरैयूयनार अगयोरुइ पुरै' में अगस्त्य को 'अगट्टियम' नामक तमिल व्याकरण का रचयिता बताया गया है। इन सब साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में अगस्त्य का दक्षिण भारत से सम्बन्ध स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। दक्षिण भारत जाने के लिए विन्ध्य के अवरोध का सर्वप्रथम अगस्त्य ने अतिक्रमण किया। रामायण एवं बौद्ध साहित्य के साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि विन्ध्य मेखला को भेद कर आर्य लोग दक्षिण भारत को गए।९५

जैसा कि हमने पहले कहा है, अगस्त्य को एक तीसरी महत्वपूर्ण उपलब्धि समुद्रजल का पिया जाना थी। उनकी इस उपलब्धि के मूल में संभवतः उनकी संघातपूर्ण समुद्री यात्राओं की स्मृति थी। लाक्षणिक रूप से उनका समुद्रजल का पीना संस्कृतियों के विस्थापन में (Placing of Cultures in between) एक अनिवार्य कदम था। दक्षिणपूर्व एशिया के दूरस्थ देशों में भारतीय आर्य (?) संस्कृति के प्रसार के लिए समुद्र अधिक बंकिम न रह सका। वह एक प्रभावशाली अवरोध न बन सका। प्रशान्त और गहरे समुद्र सम्भवतः अगस्त्य को अनन्त समुद्र यात्राओं के कारण द्वीपान्तर में भारतीयों के सन्तरण के लिए सुगम्य हो गए। लाक्षणिक रूप से समुद्र-शोषण-क्रिया की कहानी द्वीपान्तर की यात्रा के लिए समुद्र के अवरोध के नाश की स्मृति सुरक्षित बनाए हुए है। यह कहानी केवल अपने लाक्षणिक

---

९४. प्तोलेमी (टालेम) जिओग्रेफिका VII१-२२ इसके अनुसार बेहिगो १२३° से १३०° और जिसकी पश्चिमी सीमा २१° देशान्तर तथा पूर्वी २०° देशान्तर पर है। तु० की०, डा० रं० चं० मजूमदार 'क्लासिकल एकाउन्टस आव इण्डिया, पृ० ३९९। तु० श्री बी० सी० ला०, हिस्ट्री० जोग्रफी आव इण्डिया, पृ० २३।

९५. बौद्ध साहित्य में इस सन्दर्भ में बावरी की कथा उल्लेखनीय है।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही नहीं वरन् अगस्त्य और उनके आवास के आधार पर भी दक्षिण पूर्व एशियाई द्वीपों एवं इण्डोचीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार का एक विस्तृत इतिहास छिपाए हुए है। इस कहानी के अवगुण्ठन में एक अतीव शुभ्र ऐतिहासिक तथ्य किसी लज्जालु सौंदर्य की भांति छिपा हुआ है, जिन्हें सम्यक् इतिहास बोध है, उन्हें इसकी एक झलक मिल जाती है। हमें ज्ञात है कि अगस्त्य विन्ध्य पार करके दक्षिण भारत गए और साथ ही उन्होंने विन्ध्य को अपने लौटने के समय तक न बढ़ने का आदेश दिया था। उनकी इस यात्रा का उद्देश्य अज्ञात था और वह वहां से लौट भी न सके। दक्षिण भारत की उनकी यात्रा का चाहे जो भी अव्यक्त उद्देश्य रहा हो किन्तु कथा एवं घटना-क्रम को देखने से यह आभासित होता है कि उनका मुख्य लक्ष्य दक्षिण भारत न होकर समुद्र एवं समुद्रान्तर के द्वीप थे। हमारे इस विचार की पुष्टि उपर्युक्त कथाओं के अन्तरंग साक्ष्य से होती है। अगस्त्य दक्षिण भारत से नहीं लौट सके यह एक तथ्य है किन्तु उनके न लौटने का क्या कारण था इस विषय पर महाभारत तथा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय मौन है। दक्षिण भारत से अगस्त्य लौटते भी कैसे? वह तो वहां से भी समुद्रान्तर द्वीपों की ओर चले गए थे। समुद्र में कालेयक दानवों का वध और समुद्र को सोख लिया जाना इसके प्रमाण हैं। इन दोनों कार्यों का सम्पादन गुरुतर श्रम एवं समयसाध्य था। निश्चय ही इनको सुचारु रूप से करने में प्रचुर समय लगा होगा संभवतः इतना अधिक कि उनको पुनः लौटने का अवसर न मिल सका हो। उनका सम्पूर्ण जीवन-काल कालान्तर में कालेयक दानवों के वध एवं द्वीपांतर में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए उत्सर्ग कर दिया गया। इस निरूपण से अगस्त्य के दक्षिण से न लौटने एवं विन्ध्य के अभी तक उनके प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा में झुके रहने का रहस्य समझ में आता है।

इस तथ्य की एक ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक पुष्टि हमें दक्षिण-पूर्व एशिया से उपलब्ध अगस्त्य की पूजा प्रतिमाओं एवं अभिलेखों में उनके उल्लेखों से प्राप्त होती है, जिसका विवरण हम आगे देंगे। भारत में अगस्त्य के दक्षिण पूर्वी एशिया की ओर जाने की केवल एक क्षीण स्मृति उनके द्वारा समुद्र शोषण एवं उनके न लौटने की कहानियों में शेष रह गई। सम्भव है संचार के समुचित साधनों के अभाव में सुदूर पूर्व एशिया में उनके कार्यों की सम्यक् जानकारी भी भारतीयों को न मिल सकी हो। भारत में निश्चय ही इन कार्यों की एक स्मृति शेष रह गई जबकि दक्षिण पूर्व में इन कार्यों की गुरुता और महत्व समझ कर, इस कार्य को एक कार्य समझ कर उनको देवत्व प्रदान किया गया। भारतीयों की अपेक्षा सुदूर पूर्व के

निवासियों के लिए इस कार्य का अधिक महत्व था। यह तथ्य यहां पर अगस्त्य के देवत्व के रहस्य को सुलझाता है।९६

इसके पूर्व कि हम दक्षिण-पूर्व एशिया से उपलब्ध अगस्त्य विषयक साक्ष्यों का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करें, कालेयक दानवों के विषय में कुछ कहना अप्रासंगिक न होगा। अगस्त्य का समुद्रपान महाभारत के साक्ष्य के अनुसार 'लोकभावना' से किया गया एक कार्य था।९७ देवताओं के परम शत्रु कालेयक देवताओं का नाश करने और देवताओं द्वारा उनका प्रतिकार किए जाने के लिए अगस्त्य ने समुद्र का जल पिया था। समुद्र में छिपे हुए कालेयक दानव कौन थे? उनके वध के मूल में कौन सी लोकभावना थी ये कुछ विचारणीय प्रश्न हैं। कालेयक दानव देवताओं के शत्रु थे। कालेयक दानव प्रह्लाद गोत्र के थे।९८ अगस्त्य वरुण के पुत्र थे। वृत्र जलों का सहज शत्रु था तथा ये दानव उसके वंशज। अतः वरुण ने वृत्र पुत्रों के उन्मूलन के लिए सतत प्रयत्न करके उनको पराजित किया।९९ देवताओं ने उनके वध के लिए ही अगस्त्य से समुद्र शोषण की प्रार्थना की थी।१०० कालेयक दिन में समुद्र में छिपे रहते और रात्रि में अपनी स्वाभाविक निशाचर वृत्ति से ऋषियों एवं देवताओं को संत्रस्त करते थे।१०१ ये कालेय दानव अपनी समृद्धि के लिए भी विश्रुत थे क्योंकि महाभारत में इन्हें स्वर्णमाला कुण्डल एवं अंगद धारण किए हुए बतलाया गया है।१०२ कालेय दानवों के इस स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी वृत्ति निशाचरी थी और वे धन सम्पन्न भी थे। यहां एक अतीव साधारण कल्पना

---

९६. भारतीय वाङ्मय में अगस्त्य की उपासना के विषय में स्वल्प प्रमाण प्राप्त होते हैं। केवल एक परवर्ती ग्रन्थ मत्स्य पुराण में, जिसकी तिथि २०० ई० पू० से २०० ई० पू० के मध्य मानी जाती है, अगस्त्य की उपासना का उल्लेख फलश्रुति वाले अंशों में किया गया है। मत्स्य पुराण, ६१-४४-४५ में कहा गया है कि जो अगस्त्य की पूजा करता है वह सातों लोक का अधिपति बनता है।

९७. महाभारत (पूना सं०) III १०२-१८ और III १०३, २ ; III १०३, १५ हापकिन्स, एपिक माइथोलोजी पृ० १२१, १८५।

९८. महाभारत (पूना सं०) III ९७, २६।

९९. महाभारत (पूना सं०) III ९९, १-२।

१००. वही, (पूना सं) III १०१, ११ ; III १००, १-२४।

१०१. वही, III १००-२ III १०१, ९, (पूना सं०)

१०२. वही, पूना सं० III १०३, ११।

की जा सकती है कि सम्भवतः ये कालेय दानव भारतीय समुद्र यात्रा और समुद्री आवागमन के उषस् काल में प्रभावशाली जलदस्युओं के रूप में कार्य करते रहे होंगे। उनकी इस वृत्ति से प्रायः सभी समुद्र यात्री उत्पीड़ित थे और संभवतः उनका दमन करने के लिए अगस्त्य के सहयोग से (अथवा नेतृत्व में ?) एक सुसंगठित प्रयत्न किया गया। उनकी समृद्धि के मूल में भी इनकी दस्यु वृत्ति थी। निश्चय ही इन कालेय जल-दस्युओं का उन्मूलन या दमन लोक हित में किया गया था और इसका एक प्रामाणिक साक्ष्य महाभारत में प्राप्त होता है,१०३ जहां पर अगस्त्य द्वारा उनके नाश का कार्य लोकभावना से किया गया कार्य कहा गया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि अगस्त्य प्रथमतः विन्ध्य पार कर किसी अज्ञात उद्देश्य से दक्षिण भारत गए और फिर वहां से भी वे सुदूर पूर्व की ओर समुद्र यात्रा करते हुए गए। समुद्री संचरण के ही समय उन्होंने कालेय जलदस्युओं का दमन करने में सहयोग दिया।

भारतीय वाङ्मय में अगस्त्य का व्यक्तित्व कुछ धूमिल सा दिखाई देता है किन्तु दक्षिण-पूर्व एशिया में उनका व्यक्तित्व अपेक्षाकृत अधिक निखरा हुआ और प्रखर है। यद्यपि निश्चित रूप से यह कह सकना अत्यन्त कठिन है कि किन परिस्थितियों में कहां पर अगस्त्य को देवत्व प्रदान किया गया, किन्तु इतना सुनिश्चित तथ्य है कि वहां उनके महत्व के विषय में उनमें किसी भी प्रकार ऊहापोह नहीं था।

दक्षिण पूर्व एशिया से प्राप्त अगस्त्य विषयक पहला अभिलेखीय साक्ष्य मध्य जावा से प्राप्त चंगल अभिलेख है। इस अभिलेख पर ६५४ शक संवत् (७३२ ई०) तिथि अंकित है और वहां से प्राप्त होनेवाला सबसे पहला तिथियुक्त संस्कृत अभिलेख है। अगस्त्य के विषय में इस अभिलेख में एक परोक्ष उल्लेख प्राप्त होता है। इस अभिलेख में राजा संजय की आज्ञा से शक संवत् ६५४ में एक शिवलिंग की प्राण-प्रतिष्ठा का वर्णन प्राप्त होता है। इस अभिलेख में कुंजर-कुंज के एक मन्दिर को जावा के प्रस्तावित मन्दिर का एक नमूना बताया गया है। चंगल अभिलेख में निम्नलिखित पाठ द्रष्टव्य है—

> "श्रीमत्कुंजर कुंज देशनिहि (तं व) शादिभिवाद्भुतं,
> स्थानन्दिव्यतमं शिवाय जगतश्श (म्भो) स्तु' यत्राद्भुतम् ॥"

---

१०३. देखिए पिछले पृष्ठ पर।

उक्त उद्धरण में कुंजर कुंज के समीकरण एवं महत्व के विषय में विद्वानों में मतभेद है। हरिवंश पुराण के अनुसार कुंजर वह पहाड़ी है जहाँ पर अगस्त्य ऋषि का आश्रम स्थित था। सम्भवतः यह दक्षिण भारत में था।

बृहत्संहिता में अगस्त्य के आश्रम कुंजर का उल्लेख है, जो कच्छ एवं ताम्रपर्णि के मध्य स्थित था। डच पुरातत्व वेत्ता क्रोम के मतानुसार यह त्रावणकोर और तिन्नेवली की सीमाओं पर स्थित था।

जिस प्रकार कुंजर कुंज के समीकरण में उसी प्रकार इसके महत्व के विषय में भी गहन मतान्तर हैं। क्रोम ने इका अनुवाद इस प्रकार किया है—

"वहां पर शम्भु का एक विचित्र मन्दिर है, जो लोक कल्याण के लिए था, जो कुंजर कुंज के पवित्र देश में रहनेवाले कुल द्वारा ले जाया गया था।"१०४ इससे यह व्यक्त होता है कि कुंजर कुंज के निवासी वहां से मन्दिर ले आए। क्रोम के अनुसार उक्त पंक्ति का यह अर्थ नहीं कि वे लोग सीधे कुंजर कुंज से मन्दिर ही ले गए वरन् यह कि कुंजर कुंज के मन्दिर के बहुत अनुरूप ही जावा में भी एक मन्दिर था।

कर्न का विचार इससे पूर्णतः भिन्न है उनके अनुसार इस पद्यांश का अनुवाद इस प्रकार होगा—

"विश्व के मोक्ष के लिए वहां पर शिव का एक विचित्र मन्दिर था और वहां की प्रतिमा को कुंजर कुंज के पवित्र देश में रहनेवाले कुल के लोग लाए थे।१०५"

इस प्रकार कर्न के मतानुसार कुंजर कुंज के निवासी मन्दिर नहीं वरन् शम्भु की प्रतिमा ही वहां से जावा ले गए थे।

---

१०४. क्रोम ने निम्न अनुवाद प्रस्तुत किया है—

"There was a miraculous temple of Sambhu for the welfare of this world, as it were, brought over by the family settled in the blessed land of Kunjar-Kunja."

१०५. कर्न वी० जी० पृ० ११७-१२८। उनका अनुवाद इस प्रकार है—

"There was a miraculous Shrine of Siva tending to the Salvation of the world and brought over (The image ?) by the family settled in the holy land of Kunjar-Kunja".

डा० विजय राज चटर्जी१०६ ने उक्त पद्यांश का अनुवाद डा० एन० पी० चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तावित पाठ के आधार पर किया है। उनके अनुवाद के अनुसार मन्दिर कुंजर कुंज के निवासियों द्वारा दिया गया था।

यद्यपि उक्त उद्धरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से अगस्त्य से नहीं है क्योंकि उसका उद्देश्य जावा (चंगल) में शिव प्रतिमा के मन्दिर की स्थापना का वर्णन करना है किन्तु परोक्ष रूप से इसमें 'कुंजर कुंज' का उल्लेख है जहां पर अगस्त्य का आश्रम था। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि कुंजर कुंज के किसी कुल ने चंगल में स्थापित किए जाने पर शिव मन्दिर या प्रतिमा (?) को भेजा था। इस उल्लेख से दो प्रमुख तथ्य व्यक्त होते हैं—पहला तो यह कि चंगल अभिलेख उत्कीर्ण किए जाने के समय तक (आठवीं शताब्दी ई० के तीसरे दशक तक) दक्षिण पूर्व एशिया के निवासी भारत के विशेषतः कुंजर कुंज के कुलों से घनिष्ठ सम्पर्क रखते थे। दूसरे—चूंकि यह सम्पर्क कुंजर कुंज या अगस्त्य के आश्रम से था, अतएव यह सम्भव प्रतीत होता है कि कुंजर कुंज के ये कुल अगस्त्य के ही संगोत्री वंशज रहे होंगे। चुंकि सुदूर अतीत में अगस्त्य स्वयं दक्षिण-पूर्व की ओर गए थे अतएव यह सम्भव प्रतीत होता है कि वहां पर उनके वंशधरों ने अपनी मातृभूमि कुंजर कुंज से अपना संबंध जीवन्त बनाये रखा। आठवीं शताब्दी ई० में कुंजर कुंज से संबंध बनाये रखने के मूल में संभवतः अगस्त्य की ऐतिहासिक यात्रा और उनके कुल से सदैव सम्बन्ध बनाए रखने की प्रवृत्ति कार्य कर रही थी। इस तथ्य की ऐतिहासिक पुष्टि परेंग अभिलेख ८६३ ई० के अन्तरंग साक्ष्य से होती है। उक्त अभिलेख की अन्तिम पंक्तियों में जावा में रहनेवाले अगस्त्य के वंशधरों को आशीर्वचन कहे गए हैं और उनके लिए शुभम्, शिवम् की कामना व्यक्त की गई है।१०७

चंगल अभिलेख के समकक्ष ही अगस्त्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाला साक्ष्य दिनाय अभिलेख मध्य जावा के पूर्व में स्थित है। इस अभिलेख का उल्लेख सर्वप्रथम डा० ब्रैण्डीज् ने एक

---

१०६. डा० बी० आर० चटर्जी—इण्डिया एण्ड जावा—भाग-२, पृ० ३४। इनके द्वारा प्रस्तावित अनुवाद इस प्रकार है।

"There was the wonderful and most excellent place (i. e. Temple) of Siva tending to the welfare of the world which was supplied, as it were, from the family settled in the illustrious land of Kunjar-Kunia."

१०७. 'तस्याथ पुत्र पौत्राः भवन्तु तन्मेवटपद्जीवाह'।

रिपोर्ट में किया था।१०८ दिनाय अभिलेख शक संवत् ६८२ (७६० ई०) में लिखा गया था। इस अभिलेख में अगस्त्य की पूजा, उनकी प्रतिमा, मन्दिर एवं उनके उपासकों की एक परम्परा का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। इस अभिलेख में कई राजाओं का वर्णन है। जो विभिन्न देवताओं के उपासक थे यथा देवसिंह जो पूतिकेश्वर का भक्त था, लिम्ब या गजयान जननीय आदि। राजा गजयान ने, जो ब्राह्मणों का हितचिन्तक एवं अगस्त्य का उपासक था —वंशगत१०९ मन्त्रियों एवं सेनानायकों के सहयोग से एक सुन्दर महर्षि भवन का निर्माण करवाया११० इस यश-प्रिय उदार चेता राजा ने वास्तुकार को काले पत्थर की अगस्त्य की एक विचित्र प्रतिमा बनाने का आदेश दिया था। इसके पूर्व उसके पूर्वजों के काल में अगस्त्य की प्रतिमाएं देवदारु लकड़ी की बनाई जाती थीं।१११ कुम्भ योनि अगस्त्य की इस प्रतिमा की स्थापना शक संवत् ६८२=७६० ई० में की गई थी।११२

उक्त अभिलेख के चतुर्थ पद्यांश के पाठ एवं उसकी व्याख्या पर सभी इतिहासकार एकमत नहीं हैं। उदाहरणार्थ बाश् नामक एक जर्मन विद्वान् ने पद्य के द्वितीय पाद में प्रयुक्त 'भक्तः'

---

१०८. डा० ब्रण्डीज्—'रिपोर्ट आव द आर्कलाजिकल कमीशन' १९०४, पृ० ९।

१०९. बाश 'मौक्तैः' के स्थान पर 'मौनैः' पढ़ने के पक्ष में है, जबकि चटर्जी मौक्तैः पाठ मानते हैं जिसका अर्थ वंशगत मन्त्रियों से है।

११०. दिनाय अभिलेख—

'आननः कलश जे भगवति अगस्त्ये,
भक्तः द्विजातिहितकृद् गजयानना (आ)
मौक्तैः सनायकगणैः समकारयत् तद्
रम्यम् महर्षिभवनं बलहाजिरिभ्यः।

१११. दिनाय अभिलेख, पद्यांश ५—

पूर्वैः कृतां तु सुरदारुमयीं समीक्ष्य,
कीर्तिप्रियः तत्गत प्रतिमां मनस्वी।
आज्ञाप्य शिल्पि नभरम् स च दीर्घ दर्शी
कृष्णाद्भुतोपलमयीं नृपतिः चकार॥

११२. वही, पद्यांश ६—

राज्ञागस्तः शताब्देनयनवसुरसे मार्गशीर्षे च मासे,
आर्द्रर्क्षे शुक्रवारे प्रतिपद्दिवसे पक्षसन्धो ध्रुवे।
स्मृतिविज्ञैः वेदविद्भिः यतिवर सहितैःस्थापकार्यैः समेतैः,
कर्मज्ञैः कुम्भलग्ने सुदृढ मतिमता स्थापिता कुम्भ योनिः॥

शब्द को 'अगस्त्य' से सम्बद्ध बतलाया है। उनके मतानुसार-'भक्तः अगस्त्ये' का अर्थ अगस्त्य का भक्त है, सम्बन्धकारक में कुछ लोग 'भक्तः' को 'भक्तो' पढ़ते हैं। डा० चटर्जी के अनुसार पद्यांश के प्रारम्भ में प्रयुक्त शब्द 'भक्तः' जिसका एक संदिग्ध पाठ 'भक्तो' भी है, प्रथम पाद के अधिकरण कारक द्विजाति से सम्बन्धित है। इस प्रकार इसका अर्थ 'ब्राह्मणों' का भक्त है।११३

डा० बाश् द्वारा प्रस्तावित पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि महर्षि भवन (देवालय) बनवाने का कार्य सामान्यतः किसी की निष्ठा से संबंधित है। गजयान ने यदि अपने मन्त्रियों एवं सेनानायकों के सम्पूर्ण सहयोग से महर्षि भवन बनवाया तब निश्चय ही यह उसकी अगस्त्य विषयक भक्ति का प्रतीक है। स्पष्ट है कि उसने अपने राजोचित समस्त प्रभाव से अगस्त्य के लिए भवन (देवालय ?) बनवाया, जिसका वह भक्त था। उक्त उद्धरण में 'बलह्राजिरि' शब्द का क्या अर्थ है स्पष्ट नहीं। परन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह अगस्त्य के जावा में प्रचलित नाम 'बलयिन' से सम्बन्धित हो।

अगस्त्य की परम्परागत पूजा की और अधिक संपुष्टि उक्त अभिलेख के पाँचवें पद्यांश से होती है। इसमें गजयान द्वारा अगस्त्य की काले पत्थर द्वारा नयी प्रतिमा बनवाए जाने का वर्णन किया गया है। डा० चटर्जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है, "दूरदर्शी, उच्च विचारशील और कीर्तिप्रिय इस राजा ने प्रतिष्ठापित प्रतिमा, जो कि उसके पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई थी, और देवदारु की बनी हुई थी, को देखकर वास्तुकार को काले संगमरमर की एक विचित्र प्रतिमा बनाने की आज्ञा दी जिसको बनवाया।"११४ किन्तु इस पद्य के पाठ एवं अर्थ निरूपण में मतान्तर है। बाश् 'कीर्तिप्रियः तलगत प्रतिमा मनस्वी' पढ़ने के पक्ष में है। उनके मतानुसार 'तलगत' शब्द 'जीर्णप्राय (crumbling) का भाव व्यक्त करता है। डा० चटर्जी के अनुसार 'तलगत' का अर्थ 'स्थापना' (Foundation) या किसी पवित्र वस्तु की प्रतिष्ठापना (Establishment) से है और उन्होंने इसी अर्थ को ग्रहण करके

---

११३. डा० चटर्जी ने इस उद्धरण का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"That one of the name of Gajanana, who was devoted and did good to the twice born (Brahmanas) who was.....(?) to Lord Agastya born of a pitcher (Kalasa) had with the help of his ministers and leaders of any caused be built the charming abode (i. e. temple) of the sage."

—इण्डिया एण्ड जावा, पृ० ३६।

११४. डा० बी० आर० चटर्जी—'इंडिया एंड जावा', पृ० ३९।

अनुवाद किया है। बाश् के अनुसार इसका अनुवाद "राजा ने पूर्वजों द्वारा बनवाई गई देवदारु की प्रतिमा को जीर्ण होते देख कर वास्तुकार को काले पत्थर की नई प्रतिमा बनाने का आदेश दिया" इस प्रकार होगा। पुनश्च बाश् ने तृतीय पंक्ति में 'अरम्' को सद्यः के अर्थ में ग्रहण किया है जबकि चटर्जी ने इसको 'कृ' धातु के साथ रख कर 'अरम...चकार' से सम्बन्धित किया है जिसका अर्थ निर्माण करना या तैयार करना है। इस पद्यांश से प्रथम तो यह स्पष्ट होता है कि अगस्त्य की प्रतिमा के निर्माण की एक वास्तु परम्परा थी जो अधिक से अधिक गजयान के समय तक १०० वर्ष पुरानी हो चली थी, क्योंकि अभिलेख में स्पष्ट रूप से उनकी प्रतिमा को पूर्वजों द्वारा बनवाया गया (पूर्वैः कृताम्) कहा गया है। इस अभिलेख में गजयान की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है और सामान्यतः यदि एक पीढ़ी की आयु २५ वर्ष मानी जाय तब उक्त प्रतिमा की आयु लगभग ७५ वर्ष होती है। इस मध्यावधि में अगस्त्य की देवदारु प्रतिमा जीर्ण-प्रायः हो रही थी जिसे देखकर गजयान को नयी प्रतिमा बनाने के लिए वास्तुकार को आदेश देना पड़ा। काष्ठ प्रतिमा की ७५ वर्ष या कुछ न्यूनाधिक आयु अभिलेख में वर्णित गजयान की पीढ़ी की गणना से संगत प्रतीत होती है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो हमें ज्ञात होती है वह अगस्त्य की प्रतिमा के वास्तुविधान की तकनीकी प्रगति से संबंधित है। गजयान के समय में देवदारु काष्ठ द्वारा अगस्त्य प्रतिमा का निर्माण छोड़ दिया गया और प्रथम बार कालेय संगमरमर से इनकी प्रतिमा बनाई गई, इस प्रकार आठवीं शताब्दी ई० के मध्य जावा में अगस्त्य के वास्तु विधान के लिए काष्ठ के स्थान पर काले पत्थर का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।११५

अगस्त्य की इस नयी प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा शक संवत् ६८२ (७६० ई०) में मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा शुक्रवार आर्द्रा नक्षत्र ध्रुव योग और कुम्भ लग्न में राजा द्वारा की गई थी। इस अवसर पर वेद-निष्णात् ऋत्विग, यतिवर, शिल्पी और अन्य कुशल लोग विद्यमान थे। इस प्रकार दिनाय अभिलेख अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इससे हमें अगस्त्य के लिए मन्दिर के निर्माण, उसमें प्रतिष्ठित की जानेवाली काले पत्थर की प्रतिमा के निर्माण, उसकी प्राण प्रतिष्ठा की तिथि और वास्तु-विधान विषयक किए गए नवीन प्रयोग का ज्ञान प्राप्त होता है।

---

११५. भारत में भी प्राचीन काल में काष्ठ प्रतिमाएं दीर्घकाल तक बनती रही हैं। द्रष्टव्य, पद्म पुराण, पाताल खण्ड, १११, २०२,-२२५। इसमें लंकाद्वार पर लकड़ी के कीर्तिमुख के अस्तित्व का वर्णन है : 'दारु पंचवक्त्रम्'। दक्षिण पूर्व एशिया में इस प्रकार की काष्ठ प्रतिमाओं का अस्तित्व आश्चर्यजनक नहीं।

अगस्त्य पूजा के विषय में हमारा तीसरा प्रमुख साक्ष्य ७८५ शक संवत् (= ८६२ ई०) में उत्कीर्ण मध्य जावा से प्राप्त परंग अभिलेख है।११६ इस अभिलेख में अनन्त काल तक उपासक की अगस्त्य के प्रति निष्ठा भाव बने रहने की कामना व्यक्त की गई है।११७ जब तक आकाश में रवि शशि हैं जब तक दश दिशाएं वायु से परिव्याप्त हैं तब तक वलैङ् में निष्ठा बनी रहे।

उक्त उद्धरण में 'वलैङ्' शब्द भारतीय नहीं है अपितु वह अगस्त्य तारे (Canopus Star) के लिए प्रयुक्त एक पालिनेसियन शब्द है। यह एक तथ्य है कि दिनाव अभिलेख अगस्त्य ऋषि को सप्तर्षि मण्डल में तारे के रूप में प्रतिष्ठित करके गौरवान्वित किया गया था। दक्षिण-पूर्व एशिया में अगस्त्य तारे के लिए वलैङ् शब्द का प्रयोग सांस्कृतिक विचारों के आदान प्रदान की निकटता व्यक्त करता है। 'कुम्भयोनिः' की भांति इसमें भी अगस्त्य का कुम्भज स्वरूप पूर्णतः नहीं विस्मृत किया गया है। इसमें उन्हें 'कलशजनाम्ना' या 'कलश से उत्पन्न' नाम वाला कहा गया है। सम्भवतः मध्य जावा में अगस्त्य के लिए भद्रालोक नामक मन्दिर (विबुधगेह) निर्मित किया गया था।११८

जैसा कि हमने पहले बतलाया है, इस अभिलेख की अन्तिम पंक्ति में जावा में बसने वाले अगस्त्य के वंशधरों के प्रति इसमें शुभेच्छा व्यक्त की गई है।

परंग अभिलेख के साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि लगभग ८६२ ई० के पास मध्य जावा के भीतर पुनः हिन्दू धर्मावलम्बी राजाओं का अधिकार हो गया था जो अगस्त्य के उपासक या भक्त थे। इसके पूर्व, जावा में महायान धर्मावलम्बी शैलेन्द्रों का शासन था। इस अभिलेख में जावा में अगस्त्य के वंशजों के बसने की बात कही गई है।

अपने ऐतिहासिक ज्ञान की वर्तमान सीमा में अभी तक यह कहना दुष्कर है कि अगस्त्य की उपासना का क्या विस्तार और स्वरूप था। क्या अगस्त्य की उपासना एक व्यापक स्तर पर संपूर्ण

---

११६. कर्न, वी० जी० : भाग-४, पृ० २८९ और आगे, अभिलेख के स्फुट अंशों के लिए द्रष्टव्य बी० आर० चटर्जी कृत, 'इण्डिया एण्ड जावा,' परिशिष्ट।

११७. वही—यावत्क्षेरविशशिनौ यावद्धात्री चतुस्समुद्रवृता,
यावद्दशदिशि वायुस्तावद्भक्ति वलैङ् नाम्नः।

११८. बी० आर० चटर्जी कृत 'इण्डिया एण्ड जावा'—
'विहिते कलशजनाम्ना भद्रालोकाह्वये विबुधगेहे'

डा० चटर्जी ने अगस्त्य को ही भद्रालोक मन्दिर का निर्माता बतलाया है। द्रष्टव्य, 'इण्डिया एण्ड जावा' पृ० ३६।

जावा और दक्षिण-पूर्व एशिया में होती थी अथवा इनके उपासकों का कोई स्थानीय एवं जातीय सम्प्रदाय था—समुचित ऐतिहासिक साक्ष्यों के अभाव में यह कहना कठिन प्रतीत होता है। श्रीविजय राज्य के लिगोर या ताम्बलिङ्ग नामक स्थान से एक अतिथित अभिलेख संस्कृत भाषा में है और लिपि परक साक्ष्य के आधार पर सम्भवतः छठी शती ई० का हो सकता है। इस अभिलेख में बौद्ध देवी पारमिता तथा हिन्दू देवता अगस्त्य की उपासना के लिए धर्मस्व दान का उल्लेख किया गया है।११९

इसी प्रकार बोर्नियो द्वीप से भी क्यूटेसी नामक स्थान से वप्रकेश्वर नामक किसी देवता के मंदिर के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। यह वप्रकेश्वर देवता कौन था—संदिग्ध है किन्तु इतिहासकारों का अनुमान है कि सम्भव है, वह अगस्त्य या शिव का ही प्रतिरूप रहा हो।१२०

इन दो अतिरिक्त साक्ष्यों से प्रकट होता है कि अगस्त्योपासना प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया के द्वीपों में प्रचलित रही होगी। जावा, श्री विजय, जिसे सुमात्रा द्वीप में स्थित पलेम बंग नामक स्थान से समीकृत किया जाता है, तथा बोर्नियो द्वीपों में अगस्त्योपासना के व्यापक प्रमाण मिलते हैं। चूंकि अगस्त्य की परम भक्ति के अधिकांश प्रमाण हमें मध्य जावा से मिले हैं—अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दियों में कम से कम अगस्त्य की उपासना होती थी और उस समय यह अधिक लोकप्रिय हो चला था। पूर्वोल्लिखित दिनाय अभिलेख के अन्तरंग साक्ष्य से अगस्त्य की उपासना की प्राचीन परम्परा का ज्ञान होता है जिससे इसकी प्राचीनता के विषय में भी अनुमान लगाना सहज है।

डा० बाश् के अनुसार अगस्त्य उपासना का मूल स्रोत स्कन्दपुराण में वर्णित देवदारु महात्म्य है। संभवतः उन्होंने देवदारु निर्मित अगस्त्य प्रतिमा के आधार पर अपना यह मत स्थिर किया था किन्तु अगस्त्य उपासना का मूल स्रोत स्कन्दपुराण में वर्णित देवदारु महात्म्य न होकर भारतीय वाङ्मय में विकीर्ण अगस्त्य-परक वे उल्लेख हैं जिनमें उन्हें समुद्र सोखने के लिए उत्तरदायी बताया गया है। और जहां वे विन्ध्य को झुके रहने का आदेश देकर नहीं लौटे। यद्यपि भारतीय साहित्य में अगस्त्य के दक्षिण-पूर्व एशिया जाने का समुद्रयात्रा के उक्त लाक्षणिक उल्लेख के अतिरिक्त कहीं भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु हमारे इस विचार की पुष्टि जावा के साहित्य के अंतरंग साक्ष्य से होती है। जावा के प्राचीन साहित्य

---

११९. शोडीज, इन्स्क्रिप्शन ड् स्याम, भाग II, पृ० ५१, अभिलेख संख्या २८।

१२०. डा० के. एन. शास्त्री हिस्ट्री आव श्री विजय, पृ० २३, (मद्रास १९४९)।

में कुछ भारतीय पौराणिक एवं अनुश्रुतिजन्य नाम प्राप्त होते हैं। प्राचीन जावानी साहित्य (Old Javanese Literature) में अगस्त्य उपाख्यान पर आधृत अगस्त्य पर्व नामक एक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। इसके अतिरिक्त व्यंग्य अभिनय के लिए लिखी गई एक नाटिका (जिसे वहां पर लाकोन कहते हैं) में दक्षिणी भारत और इन्दोनेशिया में भारतीय संस्कृति का प्रवेश कराने वाले विख्यात अगस्त्य के जावा पहुंचने की कथा का वर्णन किया गया है।१२१ जावा के प्राचीन साहित्य में उन्हें 'अगस्ति या 'अंगरित' कहा गया है।१२२

यदि तन्तु पैंगेलरन्१२३ में आए हुए पाठ 'अंगष्ट', जो पाण्डुलिपि के अनुसार योग का विषय है, के स्थान पर पिगाउ द्वारा प्रस्तावित पाठ अंगुष्ठ सही है तब जगत विशेष नामक देवता ने अपने अंगूठे से 'पुरुषंकार देवता' की रचना की, जिसका नाम अगरित था और जिसका आकार मानवीय था। अगस्त्य को देवता मान लेने पर भी उनकी उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता था। इसलिए मानवाकार 'अगस्ति' देवता को दक्षिण-पूर्व एशिया के एक विशेष देवता ने जन्म दिया—ऐसी परिकल्पना अगस्त्य के देवत्व तथा उनकी उत्पत्ति का समाधान करने के लिए की गयी।

---

१२१. डा० जे० गोंडा, 'संस्कृत इन इन्दोनिशिया', पृ० १३६। विद्वान् लेखक ने उक्त ग्रन्थ में पोयरबतगरक' Agastya in den Archipel, Leyden, 1926 का उद्धरण देते हुए उक्त नाटिका (लाकोन) का उल्लेख किया है।

१२२. इस नाटिका में अगस्त्य विषयक कहानी का एक अन्य रूप देखने को मिलता है, जो इस प्रकार है : "बरत्माज [संस्कृत भरद्वाज,] का कुम्बयान (=कुम्भ योनि ?] नामक एक पुत्र था, जो कुम्भज था और जावा में एक घोड़ी पर बैठ गया और जिसके साहचर्य से उसे 'असताम' [=संस्कृत, अश्वत्थामा ?] नामक पुत्र प्राप्त हुआ। वह घोड़ी वस्तुतः तिलुतम [=संस्कृत तिलोत्तमा] नामक अप्सरा थी जो अगस्त्य के रूप लावण्य से आकृष्ट और कामबाण से आहत हुई थी। अगस्त्य के शरत्तम [=संस्कृत, शरोत्तम] से प्रतिहत होने के उपरान्त उसने अपना पूर्व अप्सरस् वाला रूप धारण कर लिया। कर्ण नामक राजकुमार ने राक्षसी के विरुद्ध युद्ध में अगस्त्य की सहायता मांगी थी।" इस नाटिका में अगस्त्य परम्परा का एक विकृत स्वरूप देखने को मिलता है। किन्तु इसमें भी उनके जावा पहुंचने और राक्षसों के उन्मूलन में उनके सहयोग की बात कही गई है। यह उल्लेखनीय है कि इन नाटिकाओं का उद्देश्य प्रदर्शन एवं काव्यपरक था न कि इतिहास लेखन का। इसलिए इनमें यदि कुछ तत्व भी दृष्टिगोचर हों तब उनमें कोई विशेष बात नहीं।

१२३. Tantu Panggeleran, पृ० ९२। डा० जे गोंडा द्वारा किए गए उल्लेख से गृहीत।

'अमस्ति' 'पुरुवंकार' आदि शब्दों को देखते हुए डा० गोंडा ने यह बतलाया है कि इण्डोनेशिया में गृहीत संस्कृत शब्दों के अनुस्वारीकरण की प्रवृत्ति वहां की भाषा की प्रमुख विशेषता बन गई थी।१२४ इसीलिए 'अंगस्ति' या 'पुरुवंकार' में अनुस्वार के प्रयोग से अनिवार्यतः अगस्त्य के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता।

अगस्त्य भारत के एक अति लोकप्रिय ऋषि थे जो जावा में हिन्दू सभ्यता की स्थापना के अग्रदूत थे। इनकी उपासना वहां देवता के रूप में होती थी जिनको 'भटार गुरु' (संस्कृत भट्टारक-श्रद्धेय) तथा 'शिव गुरु' कहा जाता था और जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी बड़े थे१२५। ये भटार गुरु कौन थे? वहां के देवमण्डल में इनका क्या स्थान था? ये प्रश्न विचारणीय भी हैं और विवादग्रस्त भी। भटार गुरु का वास्तु-रूप अर्ध-देवी है। उन्हें प्रतिमाओं में वयः प्राप्त, तोंदयुक्त, दो भुजाओं वाला तथा मूछों और नुकीली दाढ़ी वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। उनके हाथ में त्रिशूल, कलश या कुम्भ, अक्षमाल तथा चँवर प्रदर्शित किए गए हैं। भटार गुरु के इस स्वरूप को देखकर कुछ इतिहासकारों ने उन्हें शिवमहायोगी से समीकृत किया है किन्तु यथार्थतः उक्त प्रतिमा में अक्षमाल तथा त्रिशूल के अतिरिक्त अन्य कोई उपकरण ऐसे नहीं है जो महायोगी से सम्बन्धित हों। वस्तुतः कलश-युक्त उनके हाथ उन्हें कुम्भज से समीकृत करने के लिए प्रेरित करते हैं। उक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में अगस्त्य की लोकप्रियता पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भटार गुरु को अधिक औचित्य के साथ अगस्त्य से ही समीकृत किया जा सकता है।१२६

---

१२४. डॉ० जे० गोंडा-संस्कृत इन इन्दोनेशिया', पृ० २३४।

१२५. स्मिथर, द आर्ट आव इण्डियन एशिया, भाग-१, पृ० २९९।

१२६. डा० आर० सी० मजूमदार, द हिन्दू कालोनीज़ इन द फार ईस्ट, पृ० ८८।

सन्त-साहित्य के तीन इस्लामी शब्द

राजदेव सिंह

१. अलह—संत हिन्दुओं के राम से जितने परिचित हैं मुसलमानों के अल्लाह से उतने परिचित नहीं मालूम होते फिर भी वे इतना जानते हैं कि अल्लाह आदि सत्ता है, मनुष्य मात्र उसीके दूसरे रूप हैं, सभी जातियाँ और सभी गुण उसी एक के जाति और गुण हैं किन्तु दुविधा और द्वैत की चालों ने उसे अलग-अलग कर दिया है।१ वह खालिक (स्रष्टा) ही खल्क (सृष्टि) भी है और हर घट में वह समाया हुआ है। प्रारम्भ में उसी अल्लाह ने नूर अर्थात् प्रकाश, आभा, ज्योति, शोभा, या सौन्दर्य (से भरपूर सृष्टि) को उत्पन्न किया है। सब लोग उसीके बन्दे हैं और चूंकि सारा संसार एक ही प्रकाशपुंज से रचित है अतः इसमें न कोई ऊँच (भला) है न नीच।२ वह अल्लाह वैसे तो अलभ्य है फिर भी हृदय से, प्रेमपूर्वक, चित्त लगाकर अगर अल्लाह-अल्लाह किया जाय तो वह अलभ्य अल्लाह मिल भी जाता है।३ वह अल्लाह ही सत्य है और अन्य कोई भी सत्य नहीं है—यह संसार सम्भवतः अल्लाह ही है।४

लेकिन इस सबके साथ संत यह भी अच्छी तरह समझते हैं कि दशरथसुत कहकर राम का बखान करने वाले हिन्दू जिस तरह राम के असली मर्म को नहीं जानते उसी तरह अल्लाह-अल्लाह की रट लगाने वाले, रोजा रखकर या पश्चिम मुँह करके चीख् चीख् कर अल्लाह को पुकारने वाले, उसे अन्य धर्मों में स्वीकृत परमसत्ता से अलग मानने वाले मुसलमान भी उसके असली मर्म को नहीं जानते।५ वे नहीं जानते कि जिसके लिये वे चीख-चीख कर बाँग

---

१. अलफ् एक अल्लाह बखान। बे बंदा दूजा परमान॥
जान सिफात सोई-पहिचान। दुविधा द्वैत चाल बिगराम॥ पंचग्रन्थी, संवत् २०१०, पृ० २७।

२. लोका जानि न भूलहु भाई। खालिक खलक खलक महिं खालिक सब घटि रहा समाई॥
अव्वलि अल्लह नूर उपाया कुदरति के सब बंदे। एक नूरतें सब जग कीया कौन भले कौन मंदे। —क० ग्रं० ति० पृ० १०८, पद १८५।

३. अलह आलह कहत ही अलह लह्या सौ जाय। रजब अजब हरफ् है, हिरदै हित चित लाया। संत-सु० सार खंड १, पृ० ५१८।

४. कबीर ग्रन्थावली, दास, पृ० १०६, पद ५८।

५. ता अल्ला की गति नहिं जानी—क० ग्रं० ति० पृ० १०८, पद १८५ तथा पद १७७, १८४ पृ० २२५, साखी ३, पंचग्रन्थी पृ० २२२ आदि।

दे रहे हैं वह अल्लाह न बहरा है और न बाहर है। वह तो दिल के भीतर ही है और वहीं देखा-पाया जा सकता है।६ हिन्दू नहीं जानता कि धरती पर सिर रगड़ना या तीर्थ-स्नान बेकार है। इसी प्रकार जीवों का खून करके अपने को अल्लाह के सामने दीन-दुःखी (मिस्कीन) रूप में पेश करने वाला मुसलमान भी उस अन्तर्यामी से व्यर्थ अपने गुनाहों को छिपाने का आयास करता है। भला बताओ तो इस उजू, जप, मंजन, तथा मस्जिद में जाकर सिर नवाने का अर्थ क्या है ? अगर दिल में कपट बना हुआ है तो नमाज़ गुज़ारने या काबे जाने का क्या अर्थ हुआ ? ब्राह्मण साल में चौबीस एकादशियों का व्रत रखता है और मुसलमान एक महीने का रमज़ान मनाते हुए रोज़ा रखता है। अब इनसे कौन पूछे कि भाई, एक महीने में सब नियमबद्धता क्यों सीमित है ? ग्यारह महीने क्यों खाली जाने देते हो ? साथ ही कौन पूछे कि अगर राम तीर्थ और मूर्ति में तथा खुदा मस्जिद में ही रहता है तो और सारा देश किस का है, वहाँ कौन रहता है ? सचमुच हिन्दू ने न राम को सही रूप से देखा न मुसलमान ने अल्लाह को। हिन्दू पूर्वदिशा में हरि का वास समझता है मुसलमाम पश्चिम दिशा को अल्लाह का मुक़ाम कहता है। भाई यह सब ग़लत है। उस रहीम और राम को पूरब-पश्चिम या मंदिर-मस्जिद में न खोजकर दिल लगाकर अपने दिल में ही खोजो। वे यहीं रहते हैं। जगत् के सारे स्त्री-पुरुष उन्हीं एक के विभिन्न रूप हैं। पर इन दोनों ने सही रास्ता पाया ही नहीं।७ अरे भाई, अगर राम मन्दिर में और खुदा

---

६. मुला मुनारे का चढ़हि, अलह न बहिरा होइ, जेहि कारन तूं बांग दे, सो दिल ही भीतर जोइ ॥ क० ग्रं० ति० पृ० २२५, साखी ३।

७. क्या ले मूंड़ी भुई सौं मारे क्या जल देह न्हवाएं। खून करे मिसकिन कहावै गनहीं रहे छिपाएं ॥
क्या उजू जप मंजन कीएं क्या मसीति सिरु नाएं। दिल मंहिं कपट निवाज गुजारे क्या हज काबे आएं ॥
बाम्हन ग्यारसि करै चौबीसों काजी माह रमजांनां। ग्यारह मास कहौं क्यों खाली एकहि मांहिं नियाना ॥
जौरे खुदाइ मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा। तीरथि मूरति राम निवासी दुहु महिं किनहुं न हेरो ॥
पूरब दिसा हरी का बासा पच्छिम अलह मुकांमां। दिल महिं खोजि दिलदिलि खोजहुं रहइं रहीमा रामा ॥
जेते औरति मरद उपानें सोसम रूप तुम्हारा। कबीर पुंगरा अलह राम क सोइ गुर पीर हमारा ॥ क० ग्रं० ति० पृ० १०३, पद १७७।

मस्जिद में रहता है तो जहाँ मन्दिर-मस्जिद कुछ नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई है? सच यही है कि हिन्दू और तुर्क दोनों के रास्ते त्रुटिपूर्ण हैं, गलत हैं।८ कबीर कहते हैं कि भाई मियाँ, तुम से तो कुछ बोलते भी नहीं बनता। हम गरीब खुदाई बन्दे हैं तुम अपने स्वार्थ के लिये दूसरे को कष्ट देने वाले राजस वृत्ति के आदमी हो। फिर भी भाई, अल्लाह तो दीनों का अव्वल दर्जे का रक्षक है वह भला ज़ोर-जबरदस्ती और हत्याकर्म का आदेश कैसे दे सकता है? तुम्हारा मुर्शिद और पीर कौन है? वह कहाँ से आया है? रोज़ा, नमाज़ और कल्मे से बिहिश्त या अभीष्ट९ की सिद्धि संभव नहीं। इस शरीर के भीतर ही सत्तर काबे मौजूद हैं। बस, इसे जानो तब। अतः उस प्रिय को पहचानो, ज़रा तरस खाओ, मन से माल का माया को दूर करो। अपने को जानो और औरों को अपने जैसा जानो तब कहीं बिहिश्त मिलेगा।१० भाई, ऐसे ज्ञान का क्या विचार किया जाय जहाँ स्वयं को दूसरा समझकर अपनी ही हत्या की जाती हो। हाँ, इतना अच्छी तरह जान लो कि तुमने जो पाठ पढ़ा है वह निश्चय ही तुम्हें ले डूबेगा। भला, दातून तो तुम फाड़ते नहीं कि अल्लाह के सामने जवाब देना पड़ेगा फिर जो गले काटते हो, क्या उसके लिये वह छोड़ देगा? तुमने हाथ धो लिया, पाँव धो लिया पर दिल की गन्दगी पड़ी ही रह गई। अल्लाह का नाम लेकर तुम हत्या कर रहे हो। उस मालिक का तुम्हें डर ही नहीं लगता। अरे, क्रूरों को कभी

---

८. तुरक मसीति देहुरै हिंदू दुहूठाँ राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरानाहीं तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु कनकाई। क० ग्रं० दास, पृ० १०६, १९५८

९. दे० आगे "भिस्त"

१०. मीयाँ तुम्ह सौं बोल्याँ बनि नहिं आवै।
हंम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्ह राजस मति भावे॥
अल्लह अपलि दीन कौ साहिब ज़ोर नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे है को कहो कहाँ तैं आया॥
रोजा करैं निमाज गुजारैं कलमैं भिस्ति न होई।
सत्तरिकाबे घट ही भीतरि छैकरि जानै कोई॥
खसम पिछानि तरस करि जिय मैं माल मनीं करि फीकि।
आपा जानि और कौं जानै तब होइ भिस्ति सरीकी॥
माटी एक भेख धरि नाना तामैं ब्रह्म समाँनाँ।
कहै कबीरा भिस्ति छोड़ि करि दोजग ही मन माँनाँ॥ क० ग्रं० ति०, पृ० १०७, पद १८४।

दया नहीं आती क्योंकि स्वाद तो वे छोड़ ही नहीं सकते। अल्लाह को इस तरह गलत समझने से बहिश्त कहाँ मिल सकता है।११

संतों की इन बातों से स्पष्ट है कि मुसलमानों के अर्थ में अल्लाह की याद उन्हें प्रायः ऐसे ही अवसरों पर आती है जहाँ मुसलमानों को वे अल्लाह की राह से भटक कर केवल बाह्याडम्बरों में फँसा हुआ देखते हैं। संत कथनी की अपेक्षा करनी को बहुमान देने वाले जीव हैं। कथनी उन्हें उसी की पसन्द है जिनकी करनी पसंद हो। साफ़ है कि मुसल्मानों की करनी उन्हें पसन्द नहीं फिर कथनी (दर्शन) से वे प्रभावित थे यह मानना कठिन है।

रही अल्लाह संज्ञा तो संत मुसल्मानों की तरह अल्लाह संज्ञा को महत्त्व नहीं देते। अल्लाह संतों की दृष्टि में उसी तरह परमेश्वर का एक नाम है जैसे राम, केशव, महादेव, ब्रह्मा आदि उसके नाम हैं : साम्प्रदायिक अर्थ से अतीत, परमपुरुष वाचक संज्ञामात्र। अगर कहो कि अल्लाह और है राम और तो संत ऐसे व्यक्ति को भ्रान्त मानते है। उनकी नज़र में इनमें कोई फर्क़ नहीं है। कबीर कहते हैं कि हमारे राम-रहीम, केशव-करीम, राम-अल्लाह, बिसमिल्लाह-विश्वंभर सभी एक ही हैं, ये सत् हैं, समस्त विश्वब्रह्माण्ड उन्हीं का व्यक्त रूप है।१२ विश्व के कण-कण में वे ही व्याप्त हैं। राम-रहीम को अगर तुम सबमें नहीं देख सकते तो निश्चय ही तुम किसी झूठ या असत् के पीछे भ्रान्त हो गए हो।१३ निश्चय ही तुम्हें किसी ने बावला कर दिया है। भाई, जब परमेश्वर एक ही है, वह 'ला इलाहेलिल्लाह' है तो फिर हिन्दू का एक और

---

११. ऐसा रे, मत ज्ञान बिचारै, एकहिं को दूजा कर मारे॥
जो तै पाठ पढ़्या रे भाई, सो पाठ सही ले बोड़ेगा।
दांतण फाड़्यां लेखा लेगा, तो गल काट्यां क्यूं छोड़ेगा॥
धोए हाथ पांव भी धोए मैल रह्या दिल मांहीं।
अलह टिसमिला करि मारण लाग्या साहिब का डर नांहीं॥
बेमिहरां को मिहरनभावै स्वाद न छोड़ै कोई।
अलह राम बषना यों बोल्या भिस्त कहां थैं होई॥
—संत सुधासार, खण्ड १, पृ० ५४४, पद ९।

१२. हंमारे राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति सोई
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई॥
—क० ग्रं० दास पद ५८।

१३. मुलां कहां पुकारे दूरि, राम रहीम रह्या भर पूरि।
कहे कबीर यह मुलना झूठा, राम रहीम सबनि मैं दीठा।
वही, पृ० १०७, पद ६०।

मुसलमान का दूसरा परमेश्वर कैसे हो सकता है ? वस्तुतः यह सब नामों का चक्कर है। जैसे सोने के गहने अनेक नामों-रूपों में कल्पित-गठित होकर भी तत्त्वतः एक ही हैं उसी तरह नाम-रूप के बाहरी भेदों के बावजूद भी राम-रहीम एक ही हैं। नमाज़ और पूजा में कहने सुनने के अतिरिक्त और कौन-सा भेद है ? वस्तुतः जो महादेव है वही मुहम्मद है, ब्रह्मा और आदम भी वही है। आख़िर एक ही जमीन पर रहने वाले, एक ही मिट्टी के बने हुए मौलवी और पांडे कहाँ अलग-अलग हैं। अरे, बस नाम ही तो अलग है न ?१४ यह भेद-विवेचन कितना असहज है। वेद-कतेब, दीन-दुनियाँ, पुरुष-नारी ! आखिर क्या फ़र्क है इनमें ? एक जैसा रक्त, एक जैसा मल-मूत्र, एक जैसा चाम-मांस, एक ही शुक्रबिन्दु से सारी सृष्टि बनी है, फिर कौन ब्राह्मण है कौन शूद्र ? भाई न कोई हिन्दू है न तुर्क। सभी एक ही तत्त्व की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।१५ अगर नहीं, तो मुल्ला, तुम्हीं खुदाई न्याय कहो। तुम एक जीते-जागते प्राणी को ले आते हो, उसकी देह का नाश करके उसे बधते हो और अपने इस कर्म को दयालु और कृपालु अल्लाह के नाम पर थोप कर इसे बिस्मिल्लाह१६ कहते

---

१४. भाई रे दुइ जगदीश कहांते आया, कहु कौने बौराया ॥
अल्लहराम करीमा केशव हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना, यामें भाव न दूजा ॥
कहन सुनन को दुई करि थापै एक निमाज एक पूजा ॥
वोहि महादेव वोही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए ॥
को हिन्दू को तुरुक कहावे, एक जिमीं पर रहिए ॥
बेद कितेब पढ़ें वा कुतबा वे मोलना वे पांडे ॥
बेगर बेगर नाम धराए एक मट्टी के भांडे ॥
कहहिं कबीर वे दूनों भूले रामहिं किनहुं न पाया।
वे खसी वे गाय कटावें बादिहिं जन्म गमाया ॥ पंचग्रन्थी, पृ० २२२-२३, पद ४०६।

१५. ऐसा भेद बिगूचनि भारी। बेद कतेब दीन अरु दुनियाँ कौन पुरिख कौन नारी
एक रुधिर एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक बूंद तै सृष्टि रची है कौन ब्राह्मण कौन सूदा ॥
—कहै कबीर एक रांम जपहुरे हिन्दू-तुरुक न कोई ॥ क० ग्रं० ति० पद १८१।

१६. बिस्मिल्लाह=कुरान की एक आयत जिसका अर्थ है 'मैं ईश्वर के नाम से प्रारंभ करता हूं जो बड़ा दयालु और महाकृपालु है।' दे० उर्दू हिन्दी शब्दकोश, मथुरा, १९५९, पृ० ४४५।

हो। पर इस हलाली का मतलब क्या है? वह ज्योतिस्वरूपी तो फिर भी तुम्हारे हाथ में नहीं आता? तुम वेद को झूठा कहते हो, हिन्दू किताब (कुरान) को झूठा बताता है पर झूठा तो वह है जो तत्त्व का विचार नहीं करता। लेखे के अनुसार तो तुम सभी जीवों को एक जैसा मानते हो फिर भी (व्यवहार में) उसे दूसरा समझ कर मारते हो। कुकड़ी (मुर्गी)—बकरी सब तो तुम मारते हो और साथ ही हक्क-हक्क[१७] भी बोलते हो। भला बताओ कि सभी जीव जब उसी साईं के हैं फिर तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा। सच तो यह है कि तुम्हारा दिल नापाक है। तुमने उस पाक परवरदिगार को पहचाना ही नहीं है और न उसका मर्म ही जानते हो।[१८]

स्पष्ट है कि मुसलमान अल्लाह को जिस रूप में स्वीकार करते हैं संत उस रूप के कायल नहीं हैं। यही स्थिति राम की भी है। सुन्दरदास इसीलिए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मैंने हिन्दू की हद और तुर्क की राह दोनों छोड़ दी हैं। मैंने तो सहज को ही पहचान लिया है कि राम और अल्लाह एक ही हैं।[१९] कबीर तो इससे भी दो पग आगे बढ़कर कह गए हैं कि सुर नर मुनिजन औलिया ये सभी इसी किनारे पर खड़े रह गए हैं जब कि कबीर ने उस परमस्थान को अपना आवास बना लिया है जहाँ न राम की पहुँच है न अल्लाह की।[२०] जोगी गोरख-गोरख कहता है, हिन्दू रामनाम का उच्चारण करता

---

१७. हक। हक्क (अरबी, पुल्लिंग) सत्य, सच, यथार्थ, वाकई, यथोचित, मुनासिब स्वत्त्व, इस्तेहकाक, अधिकार-इख्तयार, ईश्वर, दे० उर्दू हिन्दी कोश, मद्रास, १९५९, पृ० ७१४

१८. मुल्ला कहहु निआउ खुदाई। इहि बिधि जीव का भरम न जाई॥
सरजीव आने देह बिनासे माटी बिसमिल कीआ। जोति सरूपी हाथी न आया
कहौ हलाल क्यू कीआ॥

बेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।
सब घट एक एक करि लेखै भी दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक्कहक्क करि बोलै।
सभै जीव साईं के प्यारे उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नापाक पाक नहिं चीन्हा तिसका मरम न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजगही मन मांनां॥ क० ग्रं०, ति०, पद १८३।

१९. हिन्दू की हदि छांड़ि के, तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजै चीन्हिया एकै राम अलाह। संत सुधासार, खंड १, पृ० ५९७।

२०. सुरनर मुनिजन औलिया ए सब वेले (उरले ?) तीर।
अलह राम का गम नहीं तहं घर किया कबीर॥
—सत्य कबीर की साखी, वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९७७, पृ० ६४।

है, मुसल्मान एक खुदा की रट लगाता है पर कबीर का स्वामी इन सबसे ऊपर है और जोगी, हिन्दू या मुसल्मान तक ही सीमित न रहकर घट-घट में समाया हुआ है।२१ परवर्ती सन्त-साहित्य में तो मुसल्मानों द्वारा स्वीकृत अल्लाह को स्पष्ट शब्दों में 'काली सुन्दरी' अर्थात् माया का ही प्रत्यक्ष विग्रह बताया गया है। बीजक पर टीका रूप लिखी गई 'पंचग्रन्थी' में कहा गया है कि—

कबीर काली सुन्दरी बैठी अल्लह होय। पीर पैगम्बर औलिया मुजरा करें सब कोय
कबीर काली सुन्दरी बैठी होय अल्लाहि। पढ़े कातिया गैब की हाजिर को कहै नाहिं॥
कबीर काली सुन्दरी कल्मा किए कलाम। पीर पैगंबर औलिया पढ़ै सो करे सलाम॥
कबीर काली सुन्दरी भई सो अल्लह मीयाँ। पीर पैगंबर सुन सिया दगा सबन को दीया॥२२

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्तों ने मुसल्मानों के अल्लाह को उसी तरह मुसल्मानी अर्थ में नहीं स्वीकार किया है जिस प्रकार हिन्दुओं के अवतारी राम को। उनके निकट अल्लाह उनके त्रिगुणातीत, भावाभाव विनिर्मुक्त, द्वैताद्वैत विलक्षण, परम-प्रेम स्वरूपी ब्रह्म की एक संज्ञा भर है और वे जिस निर्गुण राम को भजने का उपदेश देते हैं, उससे एकदम अभिन्न हैं। एकेश्वरवाद और अल्लाह की चर्चाओं को ऊपर-ऊपर से देखकर संतों को इस्लाम-प्रभावित मानने वाले भी इस अंतर को स्वीकार करने के लिये विवश हैं।

संतों का अलह—सन्तों का अल्लाह वह है जिसने सृष्टि (अमति)२३ को उत्पन्न किया है और खुदा वह है जो दसों दरवाजों को खोल देता है। चूंकि अल्लाह और राम एक ही परमतत्त्व की विभिन्न संज्ञाएँ हैं और सन्तों के राम अलख, अगम और अकल हैं अतः अल्लाह भी अलख, अगम तथा अकल हैं। आनन्द, प्रेम, दया, माया, करुणा, कृपा, क्षमा आदि उदात्ततम

---

२१. जोगी गोरख—गोरख करै, हिन्दू रामनाम उच्चरै।
मुसल्मान कहे एक खुदाई कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यो समाइ॥
डा० द्विवेदी कृत कबीर, १९५५ ई०, पृ० १० से उद्धृत
हिन्दू मूआ राम कहि, मुसल्मानं खुदाई
कहे कबीर सो जीवता जो दुहुं के निकटि न जाइ॥
—क० ग्रं०, तिवारी, पृ० २१०, साखी, ९।

२२. दे० पंचग्रन्थी, पृ० ३०७।

२३. उमति (अरबी उम्मात)=माताएँ, जन्म देने वाली, सृष्टि।

वृत्तियों का अधिष्ठान होने के साथ ही राम या अल्लाह उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म के हर तरह से समशील भी हैं। निर्गुण ब्रह्म कैसा है इसे स्पष्ट करते हुए मुण्डक की श्रुति है कि वह जो अद्रेश्य (देखने में न आने वाला, अलक्ष्य, अलख या अलह), अग्राह्य, गोत्रादि से रहित, रंग और आकृति से अतीत, आँख-कान आदि इन्द्रियों से रहित तथा हाथ पैर आदि अंगों से भी हीन है, जो नित्य है, सर्वव्यापी है, सर्वगत है, अत्यन्त सूक्ष्म और अविनाशी है, उस समस्त योनियों के परम कारण को ज्ञानीजन हर जगह, (कण-कण में) देखते हैं।२४ जिस प्रकार मकड़ी (अपने जाले की) सृष्टि करती है और फिर अपने में समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी में अनन्त प्रकार की वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोएँ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविनाशी, परब्रह्म से यह विश्व-सृष्टि उत्पन्न होती है।२५ संतों के राम-अल्लाह भी ठीक ऐसे ही हैं। कबीर कहते हैं—

> अलह अलख निरंजन देव, किहिं विधि करौं तुम्हारी सेव।
> बिश्न सोई जाकौ बिस्तार, सोई कृस्न जिन कीयो संसार॥
> गोबयंद ते ब्रह्मंडहिं गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै॥
> अलह सोई जिनि उमति उपाई, दसदर खोले सोई खुदाई॥
> लख चौरासी रब पखरे, सोई करीम जे एती करै॥

क० ग्रं० दास, पृ० १९९, पद, ३२७।

कबीर के उक्त उद्धरण में 'अलह' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है—एक बार प्रथम पंक्ति में और दूसरी बार चतुर्थ पंक्ति में। इनमें पहली बार का 'अलह' अल्लाह का अर्थ-द्योतन कराने के लिये प्रयुक्त न होकर अलभ्य के अर्थ में प्रयुक्त है। उपनिषदों में ब्रह्म की अलभ्यता का बहुशः व्याख्यान किया गया है। अलभ्य से अलभ और अलभ से अलह बनना ध्वनि-परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम है और प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा एवं साहित्य

---

२४. 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणि पादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं अद्भुत योनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ मुण्डक १, १, ६।

२५. "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा क्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। वही १, १, ७

में अलभ्य२६ का अर्थ द्योतित कराने के लिये अलह शब्द का प्रयोग होता रहा है।२७ अलभ्य का अर्थ द्योतित कराने के लिये सन्तों ने भी अलह शब्द का बहुधा प्रयोग किया है—

१. लल्ला ऐहै जो मत लावे, अनत न जाइ परम सुख पावे।
अस जो तहां प्रेम लौ लावे, तो अलह लहै लहिं चरन समावे।।२८ —कबीर

२. बोले सेख फरीद पिआरे अलह लगे। इह तनु होसी खाक निमाणी गोर घरे।२९

३. दादू—हिन्दू मारग कहे हमारा, तुरक कहे रह मेरी।
कहां पंथ हे कहो अलह का, तुम तौ ऐसी हेरी।३०

४. चन्द सूर सिजदा करैं नाव अलह का लेइ।
दादू जिमी असमान सब, उन पावौं सिर देइ।।३१

५. अलह अलह कहत ही अलह लख्या सो जाय।
रज्जब अज्जब हरफ है, हिरदे हित चित लाय।।३२

अल्लाह के ध्वनि परिवर्तित रूप-अलह-में संतों ने यह नई और व्यंजक अर्थसम्पत्ति भर कर इस शब्द की अर्थसीमा को विस्तीर्ण किया है और इस प्रकार मुसलमानों के खुदा तक ही सीमित न रहने देकर इसे अलभ्य के अर्थद्योतन की सामर्थ्य दे दी है। और चूँकि यह सब अनजाने में न होकर सायास और जानबूझ कर हुआ है अतः मुसलमानों की कल्पना से आगे बढ़कर संतों ने अल्लाह को राम की तरह जो पूर्ण परब्रह्मत्व दिया है उसका स्पष्ट संकेत भी इस शब्द से मिलता है।

उपनिषदों में ब्रह्म को "अलक्ष्य" भी कहा गया है और ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुसार "अलक्ष्य" का "अलक्ख" "अलख" और फिर "अलह" बन जाना संभव है। संतों के अनेक प्रयोगों में इस अर्थ की संगति पूरी तरह बैठ भी जाती है। वैसे इस अर्थ के लिये उन्होंने

---

२६. अलभ्य > अलभ > अलभ > अलह।

२७. जे गुनवंता अलहना गौरव लहहिं भुअंग।
बैसा मंदिर धुंअ बसहि धुलइ रूअ अनंग। कीर्तिलता, विद्यापति,

२८. दे० कबीर ग्रन्थावली, तिवारी, पृ० १३४. चौतीसी रमैनी, सं० ३४।

२९. दे० संत सुधासार, खंड १, पृ० ४०७।

३०. दादू, पृ० २५९, साखी ४८।

३१. वही, पृ० १९७, साखी, ४६।

३२. संत सुधासार, खंड १, पृ० ५२८, साखी ३८।

मुख्यतः "अलह" शब्द का प्रयोग किया है।[३३] खैर, यह अवान्तर प्रसंग है। जो प्रकृत है वह यह कि संतों का अल्लाह मुसल्मानों के अल्लाह से उतना ही भिन्न है जितना उनका राम हिन्दुओं के अवतारी राम से भिन्न है। "अलह" इस भेद का स्पष्ट संकेतक है।

२. भिस्त

भिस्त फारसी के "बिहिश्त" का ध्वनि-परिवर्तित रूप है। फारसी में बिहिश्त का अर्थ है वह पवित्र स्थान जहाँ अल्लाह निवास करता है—"बिहिश्त एक नाम है शायद उसी पाकीज़ा गोशे का[३४]" और अल्लाह, मुहम्मद तथा कुरान में ईमान लाने वाले को उसकी धर्मनिष्ठ ज़िन्दगी के नायाब इनाम के रूप में मिल जाया करता है, वैसे ही जैसे धर्मनिष्ठ हिन्दू इस सबके बदले अनन्त यौवन, अपार वैभव, कल्पनातीत सुख-विलास वाले स्वर्ग को पाता है जहाँ मधु की नदियाँ बहती हैं, अपार रूप-लावण्य वाली अप्सराएँ मिलतीं हैं, कामधेनु, कल्पवृक्ष और स्वर्गगंगा जैसी महार्घ दैवी वस्तुओं से अतीन्द्रिय सुखलाभ होता है।

पीछे हमने लक्ष्य किया है कि सन्तों का सम्पूर्ण साहित्य और उस साहित्य का मूलस्वर उनके परम्परा-प्राप्त योगप्रवण संस्कारों और समसामयिक विषम परिस्थितियों के पारस्परिक घात-प्रतिघात से परिणमित हुआ था। उन्होंने बड़ी पीड़ा के साथ अनुभव किया था कि विषय-तृष्णा, स्त्री, धन-सम्पत्ति, सुख-विलास नाशवान् होकर भी अपने को अजर-अमर की तरह मानकर सांसारिक भोग-विलास में लिप्त रहना, आत्म-प्रदर्शन, अहंकार, अज्ञान, अन्धश्रद्धा, धर्म के नाम पर खुली लूट-खसोट, कथनी-करनी की अलंघ्य दूरी, छल, पाखण्ड, धूर्त्तता, ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छूत-अछूत, मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ-व्रत, रोज़ा-नमाज, देवी-देवता आदि की अर्थहीन कल्पना ने तत्कालीन जन-जीवन को, राजा से लेकर रंक तक

---

३३. अलख के प्रयोग के लिये दे०—
कबीर ग्रन्थावली, दास पृ० १३, सा० १५, पृ० १५ सा० ४१, पृ० ३५ सा० १
वही—तिवारी, पृ० १२५ रमैनी १४, पृ० १४६ सा० ३७, पृ० १६७ सा० ८, पृ० १६८, सा० १३, पृ० २२३ सा० १६।
रैदास जी की बानी, पृ० ६, पद ९।
दादू, पद सं० ९, ५५, ५६, ५८, १८७, २०१, २३०, २३२, २४३, ३११, ३४६, ३७०, ३९१, ३९५, आदि-आदि।

३४. उर्दू-हिन्दी शब्दकोश, मद्दाह, १९५९, पृ० ४४५।

को, ग्रस्त कर लिया था। संतों ने इस सबको देखा-भोगा था। जिस समाज ने उन्हें बहु मान दिया उसने इस सब को देखा-भोगा था। वे जानते थे कि उक्त सारे बखेड़ों का मूलभूत कारण है नरक या 'दोज़ख़' का भय और स्वर्ग या बिहिश्त पाने की अपार लालसा। हिन्दू हो या मुसलमान उसके जीवन की हर चेष्टा, हर व्यापार इसी एक लक्ष्य की ओर गतिशील रहता है। इसी के लिये वह राम या अल्लाह की परमकारुणिकता में विश्वास रखते हुए भी जीववध करता है, ऊँच-नीच, छूत-अछूत की दीवार खड़ी करता है और क्रमशः जीवन की सहजता से हटता जाता है। संत इसे खूब अच्छी तरह समझते थे। कबीर ने बड़े ही सहज किन्तु उपहास भरे ढंग से कहा है—सभी लोग बैकुंठ जाने की बात करते हैं। भई, मुझे तो नहीं मालूम कि वह बैकुंठ है कहाँ? जब तक स्वयं वहां न जाया जाय, कहने-सुनने मात्र से उस बैकुंठ का विश्वास कैसे किया जाय? पर यहाँ तो अजीब हाल है। एक योजन की दूरी का भी जिन्हें ज्ञान नहीं है या जो लोग (जोजन) दूरी के ज्ञान से निरे शून्य हैं वे भी हर बात में बैकुंठ का बखान करते फिरते हैं। मैं साफ़ देख रहा हूँ कि मन में जब तक बैकुंठ की आशा बनी रहती है या बनी रहेगी तब तक राम या अल्लाह के चरणों में दृढ़ भक्ति असंभव है।३५

सन्तों ने भिस्त, भिस्ति, भिसति, भिसतु आदि रूपों में इस शब्द का प्रयोग बहुत अधिक किया है, पर प्रायः सर्वत्र वे या तो बिहिश्त को अस्वीकार करते हैं और जहाँ उसे स्वीकार करते हैं वहाँ उसकी प्राप्ति के भिन्न तरीके का निर्देश करते हैं। बिहिश्त अर्थ में उनके कुछ प्रयोग लिये जा सकते हैं—

१. दोजग तो हम अंगिया, यहु डर नांहीं मुज्झ।
   भिस्ति न मेरे चाहिए बाझ पियारे तुज्झ॥ कबीर३६

२. जब नहि होते कुल औ जाती, दोजग भिस्ति कौन उतपाती॥ कबीर३७

---

३५. चलन-चलन सब लोग कहते हैं, ना जानौ बैकुंठ कहा है॥
जोजन एक परिमिति नहिं जानैं, बातनि ही बैकुंठ बखानै॥
जब लगि मनि बैकुंठ का आसा, तब लगि नहिं हरि चरन निवासा॥
कहें सुनें कैसे पतिअइअै, जबलग तहां आप नहिं जइअै॥
कहे कबीर यहु कहिअै काहि। साध संगति बैकुंठहि आहि॥
—क० ग्रं० ति० पृ० १८ पद २९।

३६. कबीर ग्रन्थावली, तिवारी, पृ० १७०, साखी १६

३७. वही, पृ० १२०, रमैनी ५।

३. ना में ममता मोह न महिया ये सब जाहिं बिलाई ।
दोजख भिस्त दोउ सम करि जानौं, दुहूँ ते तरक है भाई ।।रैदास३८

४. कोई नावै तीरथि कोई हज जाइ । कोई करे पूजा कोइ सिरु निवाइ ।।
कोई पढ़े बेद कोई कतेब । कोई ओढ़े नील कोई सुपेद ।।
कोई कहे तुरुक कोई कहे हिन्दू । कोई बाछे भिसतु कोई सुरगिंदू ।।
कहु नानक जिनि हुकुम पछाना । प्रभु साहिब का तिनि भेद न जाना ।।३९
—गुरु अर्जुन देव

५. बे मेहर को मेहर न आवै, गले पराए छुरी चलावै ।
बषना बहुत हिरस के घाले, भिस्त छाड़ दोजग को चाले ।।४०

प्रथम दो प्रयोगों में कबीर ने बिहिश्त को स्पष्टतः अस्वीकार किया है तो रैदास ने भी परमेश्वर को स्वर्ग-नरक से ऊपर बताकर इसे अस्वीकार किया है । गुरु अर्जुनदेव भिस्तु को परमेश्वर के हुकुम से बाहर कह कर उसे अस्वीकार करते हैं । बषना जी उसे अस्वीकार तो नहीं करते पर यह जरूर मानते हैं कि जिन विधियों से हलाली करने वाले क्रूर स्वर्ग जाना चाहते हैं उससे वे उलटे नरक की ओर ही जाते हैं । यही स्थिति दादू की भी है । उनके जितने भी प्रयोग मुझे मिल सके हैं उनमें प्रायः सर्वत्र वे भिस्त को बिहिश्त के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं पर लोग जिन तरीकों से उसे पाना चाहते हैं उसके प्रति वे स्पष्टतः अनास्थाशील हैं । दो एक प्रयोग देखे जा सकते हैं—

१. सो मोमिन मन में करि जाणि, सत्ति, सबूरी बैसे आणि ।
चले साथ संवारै बाट, तिनकूं खुले भिस्ति के पाट ।।
सो मोमिन मोम दिल होइ, साई को पहिचाने सोइ ।।
जोर न करे हराम न खाइ, सो मोमिन भिस्त में जाइ ।।४१

इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि दादू बिहिश्त जैसी किसी स्थिति में विश्वास करते हैं जिसे पाने के लिये मोमिन को सब्रपूर्वक सत्य पर दृढ़ रहना, मोम दिल होना, साईं को पहचानना, जोर-जुल्म से दूर रहना और हराम का न खाना आवश्यक है । किन्तु इस सबके बावजूद वे बिहिश्त

३८. रैदास जी की बानी पृ० ४, पद ४ ।
३९. संत सुधासार, खण्ड १, पृ० ३४७, पद ९ ।
४०. वही, पृ० ५४४ पद १० ।
४१. दादू, पृ० २५६, साखी, ३०, ३१ ।

को परमप्रिय परमेश्वर के संगसुख की अपेक्षा नीची कोटि की उपलब्धि मानते हैं और उसके एक क्षण के दर्शन के बदले में दीन-दुनियाँ को तो सदके करते ही हैं, तन-मन को क्षीण और दोजग-भिस्त को न्योछावर भी कर देने के लिये तैयार मिलते हैं।४२ वे मानते हैं कि अल्लाह के आशिकों को अपना ईमान ही सबसे बढ़कर है। उस परमप्रिय के प्रति अपने विश्वास (ईमान) में दृढ़ रहने वाले आशिक दीन-दुनियाँ या बिहिश्त-दोज़ख़ को लेकर क्या करेंगे?४३ कुएँ में पड़ें ये भोग-विलास और उस प्रियद्वारा दिया गया क्षत्र-सिंहासन। भला जिन्हें राम का दिया हुआ जन्नत या बिहिश्त भी अच्छा नहीं लगता वे लाल पलंग लेकर क्या करेंगे। आग लगे इस सुख की सेज में। मुझे तो बस उस प्रिय को देखने ही दीजिए। बैकुंठ मुक्ति और स्वर्ग लेकर क्या करना है। मुझे तो चौदहों भुवन (का राज्य) भी पसन्द नहीं। जिस घर में प्रिय नहीं आया, उस घर के सजे-सजाए मण्डप मिट्टी में पड़ें। हे प्रिय, मैं तो तेरा वियोगी हूँ। यह अनन्त लोकों का अभय राज लेकर क्या करूँगा। हे मेरे साहिब, बस मेरी इतनी-सी सुन लो कि मुझे अपना दर्शन करने दो।४४ पीछे कबीर ने बिहिश्त को अस्वीकार करते हुए ठीक यही बात कही थी कि हे प्रिय अगर तुम मिलो तो नरक को स्वीकार करने में भी मुझे डर नहीं है लेकिन अगर तुम अपनी जगह पर मुझे बिहिश्त देना चाहते हो तो रहने दो, नहीं चाहिये तुम्हारे बिना मुझे यह बिहिश्त।

---

४२. दीन दुनी सदके करौं टुक देखण दे दीदार।
तन मन भी छिन छिन करों, भिस्त दोजग भी वार ॥ दादू पृ० ६१, सा० ४०।

४३. अल्ल : आशिकां ईमान, बहिश्त दोजख दीन दुनिया, चेकारे रहमान।
मीर मीरी पीर पीरी, फरिश्त : फरमान, आब आतिश अरश कुर्मी, दीदनी दावान ॥
—दादू पृ० ६८४ पद ४२२।

४४. ये खूहि पर्ये सब भोग बिलासन, तेसहु वाको छत्र सिंघासन।
जनहहु राम भिस्त नहिं भावै, लाल पलिंगा क्या कीजै।
भाहि लगै इहि सेज सुखासन, मैं कौं देखण दीजै ॥१॥
वैकुंठ मुकति सरग क्या कीजै, सकल भवन नहिं भावै ॥
भठी पएँ सब मंडप छाजे, जे घरि कंत न आवै ॥२॥
लोक अनन्त अभै क्या कीजै, मैं बिरही जन तेरा।
दादू दरसन देखण दीजै, ये सुनि साहिब मेरा ॥३॥
वही पृ० ६८३ पद ४२१।

चैकारे—क्या करे। ३—खूहि पए—कुएं में पड़ें, भाहि लगे—आग लगे।)

स्वर्ग को अवर कोटि की उपलब्धि मानने तथा उसे परमधाम (मोक्ष) और भक्ति के सामने अस्वीकार करने की यह वृत्ति नई नहीं है। स्वर्ग को बहुमान देने वाले हिन्दू शास्त्रों और भक्ति सम्प्रदायों में स्वर्ग को बहुधा नीची कोटि को, अनित्य या नाशवान् उपलब्धि माना गया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है कि वेदों के वाक्यों में भूले हुए और इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है इस तरह की बातें कहने वाले मूढ़ लोग बढ़ा-चढ़ा कर कहा करते हैं कि "अनेक प्रकार" के कर्मों से ही जन्म-रूप फल मिलता है और भोग तथा ऐश्वर्य मिलता है। स्वर्ग के पीछे पड़े हुए ये काम्य-बुद्धि वाले भोग और ऐश्वर्य में ही गर्क रहते हैं अतः कार्य-अकार्य का निर्णय करने वाली उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी भी एक स्थान पर स्थिर (समाधिस्थ) नहीं रह पाती।४५ स्वर्ग-सुख की अनित्यता के विषय में गीता में अन्यत्र श्रीकृष्ण ने बताया है कि जो त्रैविद्य अर्थात् ऋक्, यजु और साम नामक तीनों वेदों के कर्म करने वाले, सोम पीने वाले तथा निष्पाप व्यक्ति यज्ञ से मेरी पूजा करके स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा करते हैं, वे इन्द्र के पुण्य-लोक में पहुँच कर देवताओं के अनेक दिव्य भोग भोगते हैं, और उस विशाल स्वर्ग-लोक का उपभोग करके पुण्य का क्षय हो जाने पर फिर जन्म लेकर मृत्यु लोक में आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म का पालन करने वाले और काम्य उपभोग की इच्छा करने वाले लोगों को आवागमन प्राप्त होता है।४६ हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक (स्वर्गादि) जितने लोक हैं वे सभी 'पुनरावर्तिनि' हैं अर्थात् उन्हें प्राप्त करके फिर भूलोक में लौट आना पड़ता है, लेकिन जो मेरे लोक को प्राप्त करता है उसको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।४७

---

४५. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म फलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया पहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।

गीता २, ४२, ४४।

४६. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥—वही ९, २०, २१। और भी

दे० ६, ४१ एवं ७, २३।

४७. आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

वही ८, १६।

४८. ईशावास्य ९-१२ तथा कठ २, ५ में भी इसी तरह की बात कही गई है।

वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्थित होने वाले प्राचीन उपनिषदों में भी इसी प्रकार की बातें कही गई हैं। गीता के उक्त निर्देश उन्हीं उपनिषदों का ही व्याख्यान करते हैं। मुण्डकोपनिषद् की श्रुति है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति४९॥ १, २, १०

अर्थात इष्ट५० और पूर्त (जैसे सकाम) कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूर्ख लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेय को नहीं जानते। वे पुण्य कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के ऊँचे स्थान में (जाकर श्रेष्ठकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले) वहाँ के भोगों का अनुभव करके इस मनुष्यलोक में अथवा इससे भी अत्यन्त हीन योनियों में प्रवेश करते हैं।

उक्त विवरणों में स्वर्ग को स्पष्टतः अवर कोटि की उपलब्धि बनाया गया है। उसकी अपेक्षा मोक्ष को अधिक महत्वपूर्ण तथा नित्य उपलब्धि बनाने का प्रयास भी उक्त ग्रन्थों में बराबर हुआ है। पर आगे चलकर भक्ति के सामने मोक्ष को भी नीची कोटि की उपलब्धि मान लिया गया है। रामचरित मानस में ऐसी अनेकशः उक्तियाँ पदे-पदे मिलतीं हैं जिनमें कहा गया है कि 'धरम न अरथ न काम रुचि पद न चहहुँ निरवान' तथा 'जेहि जोनि जनमउं कर्मबस तहं रामपद अनुरागऊं।' संतों के साहित्य का मूल स्वर भी ठीक ऐसा ही है और इसीलिये हिन्दू-मुसलमानों के स्वर्ग या बिहिश्त को वे कोई महत्त्व नहीं देते और भिस्त को सदैव मोक्ष के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। उनका भिस्त किसी पाकीज़ा गोशे का नाम नहीं। उन्होंने जिस प्रकार राम-रहीम, केशव-करीम, अल्लाह-खुदा, विष्णु-गोविन्द, रब-महादेव आदि संज्ञाओं का प्रयोग करके भी इनका अर्थ त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, अगम्य अलक्ष्य, निर्लेप, निरंजन और निर्गुण ब्रह्म ही समझा-समझाया है उसी प्रकार भिस्त का अर्थ भी उनके निकट हिन्दुओं का स्वर्ग और मुसल्मानों का बिहिश्त न होकर कैवल्य, परमपद, 'शून्य निरंजन ठांव' ही है। स्पष्ट है कि यह अर्थ इस्लामी परम्परा की अपेक्षा भारतीय विचार परम्परा के अधिक अनुकूल है और निश्चयतः उसी को लोकभाषा के माध्यम से व्यक्त करता है।

---

४९. इष्ट—यज्ञ यागादि श्रौतकर्म—'एकाग्निकर्महवनं त्रेतायां यच्चाहूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानं इष्टं तदभिधीयते॥

५०. पूर्त—वापी, कूप, तडाग तथा मंदिर आदि बनवाना, अन्नदान एवं बागबगीचे लगाना पूर्त कहलाता है—

वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्न प्रदानमारामाः पूर्तमर्थ्याः प्रचक्षते॥
उक्त श्लोक, आप्टेकृत, संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, १९५७, वाल्यूम १, पृ० ३९० से उद्धृत हैं।

लेकिन जैसा हमने पीछे देखा है कि सन्तों का परमप्राप्तव्य न तो स्वर्ग ही है न मोक्ष ही। वे तो उस परम प्रिय का सान्निध्य चाहते हैं। उसको देखने का अवसर मिल जाय, दादू को बस इतना ही चाहिये। उन्हें वैकुण्ठ, मोक्ष और स्वर्ग से क्या प्रयोजन। अपने एक पद में वे कहते हैं—

> वैकुंठ मुकति सरग क्या कीजे, सकल भवन नहिं भावै।
> मठी पयें सब मंडप छाजे, जे घरि कंत न आवै॥
> लोक अनंत अभै क्या कीजे, मैं विरही जन तेरा।
> दादू दरसन देखण दीजे, ये सुनि साहिब मेरा॥५१ दादू, पृ० ६८३ पद ४२१

कबीर भी कुछ ऐसी ही बात करते हैं। वे पूछते हैं—हे राम, तुम मुझे तार कर कहाँ ले जाओगे? तुम कृपा करके जो वैकुण्ठ मुझे दोगे, बताओ तो भला, वह कहाँ और कैसा है? मुझे मुक्ति की बात बताने का यही मतलब तो है कि तुम मुझे अपने से दूर रखना चाहते हो? मुझे क्यों भुलावा देते हो मेरे प्रिय! तुम तो सभी में एकमेक होकर रमे हुए हो। तारना और तिरना तो तभी तक कहा जाता है जबतक असलियत का ज्ञान न हो। मैं तो सभी में तुम्हें एकमेक देखता हूँ। मेरा मन स्थिर हो गया है।५२ मेरे लिये स्वर्ग देने का कष्ट तुम मत करो। मैं तुम्हें चाहता हूँ, सो तुम मुझे मिल गये हो। मेरा भिस्त यही है।

सन्तों की यह वृत्ति भिस्त को सही ढंग से समझने का एक नया संकेत देती है। संत साहित्य का अध्येता इस बात को अच्छी तरह जानता है कि यदि उनका अभिप्रेत अर्थ निकल सके तो "अगम" को "बेगम" बना देना, करम (करह) में "क्रियापरायण" साधक का अर्थ भर देना५३, चिन्तामणि से चेतावनी का भी अर्थ निकालने के लिये उसे 'च्यंतावणी'

---

५१. पूरे पद तथा उसकी व्याख्या के लिये दे० पीछे।

५२. राम मोहिं तारि कहां ले जइहौ।
सो बैकुंठ कहां धों कैसा करि पसाउ मोहिं दै हौ॥
जउ तुम मोकों दूरिकरत हौ, तो मोहि मुकुति बतावहु।
एकमेक रमि रह्यो सभनिमें तो काहे भरमावहु॥
तारन तरनु तबै लगि कहिए, जब लगि तत्त न जाना।
एक राम देखा सबहिन में कहे कबीर मन माना॥ क० ग्रं० ति० पद ५४।

५३. संबद्ध प्रसंग की साधारता तथा 'अगम' की विस्तृत व्याख्या के लिये दे० हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, संस्क० २, पृ० ९८३ पर मेरी टिप्पणी—'अगम'।

रूप दे देना उनके लिये प्रकृत है। अन्य संतों की अपेक्षा कबीर में यह वृत्ति काफ़ी मुखर है। भिस्त सम्बन्धी कबीर के प्रयोगों को ध्यान से देखने पर लगता है कि वे उस से "अभीष्ट" का अर्थ भी निकालना चाह सकते हैं।

हम पीछे देख आए हैं कि भिस्त मूलतः फ़ारसी के बिहिश्त का ध्वनिपरिवर्तित रूप है। इससे थोड़ा ध्वनिसाम्य रखने वाला संस्कृत का एक शब्द है "अभीष्ट" जिसका अर्थ है वांछित, चाहा हुआ, अभिप्रेत। "अभीष्ट" का "भीष्ट" और फिर "भिस्त" बन जाना ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के अनुकूल न भी पड़े तो भी सन्तों (विशेषतः कबीर) को कोई ख़ास अड़चन महसूस नहीं हो सकती। प्रयोगों से लगता है कि कहीं कहीं भिस्त को इच्छित या अभिप्रेत के अर्थ में और कहीं-कहीं स्वर्ग तथा अभिप्रेत दोनों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कबीर का एक पद है—

> तहां मो गरीब की को गुदरावै। मजलिसि दूरी महल को पावै॥
> सत्तरि सहस सलार हैं जाके। सवालाख पैगंबर ताके॥
> सेख जु कहिअहिं कोटि अठासी। छप्पन कोटि जाके खेल खासी॥
> तैंतीस करोड़ी है खेल खांनां। चौरासी-लाख फिरैं दिवाना॥
> बाबा आदम पै नजरि दिलाई। उनभी भिस्ति घनेरी पाई॥
> तुम दाते हम सदा भिखारी। देहुं जवाब होइ बजगारी॥
> दासु कबीर तेरी पनह समानां। भिस्ति नजीकि राखिरहिमांनां॥५४

उक्तपद में भिस्ति का दो बार प्रयोग हुआ है। प्रथम प्रयोग में भिस्ति के साथ लगा हुआ "घनैरी" विशेषण इसे अभीष्ट ही अधिक प्रमाणित करता है, वैसे स्वर्ग वाला अर्थ भी बैठ जाता है। संतों में भिस्त का प्रयोग प्रायः दोजग या दोजक के साथ किया है। पर यहाँ यह अकेले प्रयुक्त है। वैसे यह अकेले प्रयुक्त होने वाली बात कोई ख़ास महत्त्व नहीं रखती क्योंकि एक अन्य पद५५ में भिस्त अकेले प्रयुक्त है और मुख्यतः स्वर्ग का अर्थ देता है, वैसे अभीष्ट अर्थ भी बैठाया जा सकता है। जहाँ तक भिस्त के अभीष्ट जैसे अर्थ का सवाल है कबीर के दो एक अन्य प्रयोगों को लिया जा सकता है। अपने एक पद में वे कहते हैं—

---

५४. दे० करहा पर मेरी टिप्पणी, हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, संस्क० २, पृ० २१५

५५. क० ग्रं० ति० पृ० २५, पद ४२।

मुल्ला कहहु निआव खुदाई। इहि विधि जीव का भरम न जाई॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक्क हक्क करि बोलै।
सबै जीव साईं के प्यारे उबरहुगे किस बोलै॥५६

दिल नापाक पाकनहिं चीन्हां, तिस का मरम न जांना।
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन मांनां॥५७

अर्थात् मुल्ला, तुम्हीं खुदाई न्याय की बात बताओ। तुम लेखे के अनुसार तो सभी जीवों को एक मानते हो पर (व्यवहार में) मुर्गी भी मारते हो और बकरी भी और अपने इस कर्म को उचित सिद्ध करने के लिये हक्क-हक्क (उचित) भी बोलते हो। भला बताओ तो जब सभी जीव उस साईं को प्यारे हैं फिर तुम्हारा उद्धार कैसे होगा? सच तो यह है कि तुम्हारा हृदय अशुद्ध है अतः उस निर्मल, निरंजन पाक परवरदिगार को न तू पहचान ही सका है न उसका मर्म ही समझ सका है। अपने अभीष्ट को तुमने (अनेक दिशाओं में) छिटका दिया है और दोजग (अपरलोक५८ की प्राप्ति) में ही मानसिक तोष खोज रहे हो। इसी प्रकार पद संख्या १८४ में "रोजा कर निवाज गुजारे कलमें भिस्ति न होई"५९, का यह अर्थ अधिक संगत है कि "कलमा, रोज़ा और नमाज़से अभीष्ट सिद्धि असंभव है।" वैसे स्वर्ग

---

५६. वही, पृ० १०४, पद १७८। स्वर्ग के अर्थ में प्रयुक्त भिस्त के लिये दे० वही पृ० १२०, रमैनी ५ तथा पृ० १७७, साखी १६।

५७. वही पृ० १०६-७, पद १८३।

५८. दे० आगे, 'दोजग'।

५९. क० ग्रं० ति० पृ० १०७, पद १८४—

मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बनि नहि आवै। हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्ह राजस मनि भावै॥
अल्लह अवलि दीन का साहिब जोर नहीं फुरमाया। मुरसिद पीर तुम्हारे है को कहो कहाते आया
रोजाकरै निवाज गुजारै कलमैं भिस्ति न होई। सतरिकाबे घटही भीतरि जे करि जानै कोई।
खसम पिछानि तरस करि जिय में मालमनी करि फीकी। आया जांनि और को जानें तब होइ भिस्तिसरीकी
माटी एक भेख धरि नांनां तामें ब्रह्म समानां। कहै कबीर भिस्ति छोडि करि दोजग ही मन माना॥

वाला अर्थ भी बैठ सकता है पर इस शर्त के साथ कि उसे पाने का जो तरीका मियाँ जी अपनाते हैं वह संतों को स्वीकार्य नहीं है।[६०]

जैसा हमने देखा है भिस्त का बिहिश्त अर्थ भी संतों के मन में था पर उन्हीं प्रसंगों में जब वे मुसलमानों की करनी का प्रत्याख्यान कर रहे हों या बिहिश्त को अस्वीकार कर रहे हों। संत जहाँ उक्त प्रसंगों के अतिरिक्त अपनी निजी बात कर रहे हों वहाँ भिस्त का स्वर्ग के अर्थ में उन्होंने कोई प्रयोग नहीं किया है। सन्त ब्रह्मसान्निध्य को स्वर्ग या बिहिश्त से ऊपर की स्थिति और अभीष्टतम उपलब्धि मानते हैं इस लिये उनके निजी प्रसंगों में वाच्यार्थ के स्तर पर भिस्त अभीष्ट का अर्थ न भी दे तो भी वह बिहिश्त के इस्लामी अर्थ में कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। संतों का भिस्त उनका ब्रह्म-सान्निध्य ही है।

२. दोजग

दोजग या दोजक मूलतः फ़ारसी के "दोज़ख़" शब्द का ध्वनिपरिवर्तित रूप है। मुसलमानी धर्म के अनुसार दोज़ख़ सात विभागों वाले नरक का नाम है। संतों ने इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से नरक के अर्थ में ही किया है[६१] पर उनकी नरक सम्बन्धी धारणा ठीक वैसी ही नहीं है जैसी हिन्दू या इस्लाम धर्मों में स्वीकृत है। संतों के मत से काम, क्रोध, अहंकार, विषयतृष्णा, हिंसा आदि अशिव वृत्तियाँ ही नरक या दोजग हैं। दादू का कहना है—

---

६०. इस तरह के दो एक अन्य, प्रयोग भी देखे जा सकते हैं—
(क) ऐसा रे मति ज्ञान बिचारैं एकहि को दूजा करि मारैं ॥
बेमिहरा को मिहर न आवे, स्वाद न छाडे कोई।
अलह राम बचना यों बोल्या भिस्त कहाँ थैं होई।
(ख) तन में राम और कित जाय। घर बैठल भेंटल रघुराय ॥
जोगि जती बहु भेष बनावे। आपन मनुवाँ नहिं समुझावे।
आसातृस्ना करे न धीर। दुबिधा-घातल फिरल सरीर ॥
लोक पुजावहिं घर घर धाय। दोजख कारन भिस्त गंवाय ॥ संत सुधासार, खण्ड २, पृ० १२३, पद ४, गुलाल साहब।

६१. दे० कबीर ग्रन्थावली, डा० तिवारी, पृ० ४५, पद ७६, पृ० १२०, रमैनी ५, पृ० १७७, साखी १६।
दे० दादू, पृ० ६१, साखी ४०, पृ० २५१, साखी ४, पृ० २५५, साखी २५, पृ० ६४८, पद ४२२।
दे० प्राण संगली, पृ० ७, पृ० ३२, पद १८, पृ० ४०, पद ५२।

दादू यहु तो दोजख देखिए, काम, क्रोध अहंकार ।
राति दिवस जरिबो करे आपा अगनि विकार ॥
विषै हलाहल खाइ करि, सब जग मरि मरि जाइ ।
दादू मुहरा नांव ले, रिदै राखि ल्यौ लाइ ॥६२

दादू के शिष्य संत बषना जी ने जिह्वा के स्वाद के लिये की जाने वाली बेरहमी और जीव हत्या को नरक में ले जाने वाला कर्म कहा है६३ तो संत गुलाल साहब ने आशा-तृष्णा, और छल कपट पर आधृत सम्मान-कामना को प्रत्यक्ष दोजख माना है ।६४

बिहिश्त की तरह ही६५ दोज़ख़ सम्बन्धी यह धारणा भी प्राचीन भारतीय शास्त्रों के शतप्रतिशत अनुकूल है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध और लोभ को स्पष्ट शब्दों में नरक का द्वार बताया है जो आत्मनाश के प्रबलतम विकार हैं । उन्होंने कहा है कि इन तीन तमोद्वारों से छूटकर मनुष्य वही आचरण करने लगता है जिससे उसका कल्याण हो, और इस प्रकार वह उत्तम गति पा जाता है ।६६ गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन ने कुलनाश से अधर्म की, अधर्म से कुल-स्त्रियों के बिगड़ने की, कुलस्त्रियों के बिगड़ने से वर्ण संकरता की

६२, दादू पृ० २३० साखी ६३, ६४ ।

६३, फुरमाया रे फुरमाया रे भाई, खाण मतै ऐसी मन आई ॥
आपण मार आपण ही खावै, पैगंबर ने दोस लगावै ॥
रोजा धरे निवाज गुजारी, सांझ पड़्या थें मुरगी मारी ॥
बेमेहर को मेहर न आवे, गले पराए छुरी चलावे ॥
बषना बहुत हिरस के घाले, भिस्त छाड़ि दोजग को चाले । संत सुधासार, खंड १
पृ० ५४४, पद १० ।

६४, तन में राम और कित जाय । घर बैठल भैंटल रघुराय ॥
जोगीजती बहु भेष बनावे । आपन मनुवां नहि समुझावे ॥
आसातृस्ना करे न धीर । दुविधा-मातल फिरत सरीर ॥
लोक पुजवहिं घर घर धाय । दोजख कारन भिस्त गँवाय ॥
वही, खंड २, पृ० १२९, पद ४ ।

६५, दे० पीछे ।

६६, त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
गीता १६, २०-२१ ।

और वर्ण संकरता से कुलनाश तथा पितरों के नरक में पड़ने की जो बात की है६७ उसमें भी "काम" ही नरक का मूलभूत कारण सिद्ध होता है।

संतों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ईर्ष्या आदि मनोविकारों और इनके द्वारा प्रेरित कर्मों को सदैव अस्वीकार किया है और इन्हें मनुष्य के दुःखों का कारण तथा इनके त्याग को दुःख-बन्ध से मुक्ति का उपाय बताया है। बिहिश्त या स्वर्गादि लोकों को अस्वीकार करने का कारण भी यही है क्योंकि हिन्दू एवं इस्लाम धर्मों में इनकी कल्पना जिन रूपों में की गई है वह प्रत्यक्षतः इस लोक में अप्राप्य भोग-विलास का पुंजीकृत रूप ही है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वर्ग को नीची कोटि की उपलब्धि बताते हुए जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि स्वर्ग ऐश्वर्य और भोग की जगह है और स्वर्ग के पीछे पड़े हुए काम्य बुद्धि वाले लोग इन्हीं भोग और ऐश्वर्य में ग़र्क रहते हैं अतः कार्य-अकार्य का निर्णय करनेवाली उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं हो पाती।६८ स्पष्ट है कि संत इस तरह के लोक को नरक समझें यह नितान्त प्रकृत है। पीछे भिस्त की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि संतों ने बिहिश्त को कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। बहुत संभव है कि दोज़ख़ को दोजग बनाकर कबीर आदि संतों ने उससे दूसरी दुनियाँ, अपरलोक या स्वर्ग का अर्थ-संकेत देना चाहा हो। संतों के एतत्संबन्धी प्रयोगों में यदाकदा कुछ ऐसे क्षीण-से संकेत मिल जाते हैं जहाँ दोजग, नरक के अर्थ के साथ ही, नरक के अर्थ से नितान्त विपरीत पड़ने वाले 'अपरलोक', दूसरी दुनियाँ, या 'स्वर्ग' जैसे अर्थ का वहन करता जान पड़ता है। ऐसा प्रायः उन प्रयोगों में ही देखा जाता है जहाँ दोजग के साथ प्रयुक्त भिस्त बिहिश्त के साथ-साथ 'अभीष्ट' का भी अर्थसंकेत देता है। कबीर के दो-एक पदों में भिसति के साथ प्रयुक्त दोजग को एतदर्थ देखा जा सकता है। एक पद है—

> दिल नापाक पाक नहिं चीन्हा तिसका मरम न जांनां।
> कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन मांनां ॥६९

अर्थात् तुम्हारा हृदय अशुद्ध है अतः उस निर्मल पाक परवरदिगार को न तू पहचान ही सका और न उसका रहस्य ही समझ सका है। अपने अभीष्ट (लक्ष्य) को तुमने (अनेक दिशाओं

६७. गीता १, ४०-४४।
६८. गीता २, ४२-४४, ऐतत्संबन्धी विस्तृत विवरण के लिये दे० पीछे।
६९. क० ग्रं० ति०, पृ० १०७, पद १८२। पूरे पद तथा उसकी व्याख्या के लिये दे० पीछे।

में) छिटका दिया है और दोजग (=अपर लोग=स्वर्ग) की प्राप्ति में ही मानसिक तोष पा रहे हो। इसी प्रकार दादू का एक पद है—

जग अंधा नैन न सूझै, जिन सिरजै ताहि न बूझै ॥

पाहण की पूजा करे करिआतम घाता। निर्मल नैन न आवई, दोजग दिसि जाता ॥७०

अर्थात् संसार अन्धा है। उसे आँखों से कुछ दिखाई ही नहीं देता। नहीं तो भला जिसने उसे बनाया है वह उसी को समझ नहीं पाता। यह तो आत्मा की हत्या करके भोग एवं ऐश्वर्य के प्रति आसक्त हुआ पत्थर पूजता है और बदले में स्वर्ग जाता है। इस भोगासक्त स्वर्गपरायण संसारी को वह निर्मल निरंजन देव कभी दिखाई ही नहीं पड़ता।७१

दोज़ख़ का स्वर्ग अर्थ पहली दृष्टि में विचित्र लग सकता है, शायद अग्राह्य ही लगे। पर जैसा हमने अभी कहा है कि भोग-विलास को अस्वीकार करने वाले सन्त भोगैश्वर्य वाले स्वर्ग को अगर नरक कहना चाहें तो इसकी संभावना हो सकती है और यह संभावना संतों की विचारधारा के काफ़ी अनुकूल भी पड़ेगी।

सामान्य बोलचाल और साहित्य में७२ दोज़ख़ का प्रयोग कभी न भरने वाले पेट के अर्थ में भी होता है। कहना कठिन है कि दोज़ख़ का यह अर्थ संतों के पहले विकसित हो गया था या नहीं पर जहाँ तक उपलब्ध प्रयोगों का सवाल है संतों के पूर्व का ऐसा कोई प्रयोग मुझे नहीं मिला। हिन्दी के कोशग्रन्थों में भी दोज़ख़ का यह अर्थ दिया गया नहीं मिलता। विश्वास है कि यह अर्थ संतों के हाथों ही आया है।

सन्तों ने हिन्दुओं-मुसलमानों में प्रचलित हलाली तथा देवी आदि को दी जाने वाली पशुबलि का सदैव विरोध किया है और इसे धर्म की आड़ में स्वादवृत्ति का दूषित व्यापार बताया है। इस तरह की निन्दा या खण्डन के प्रसंगों में दोजग शब्द स्पष्टतः पेट के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिये कबीर एक पद में कहते हैं—

काहे मेरे बाम्हन हरि न कहहि।
राम न बोलै पांडे दोजक भरहि ॥

---

७०. दादू पृ० ५५७, पद १९५।

७१. इस तरह के अन्य प्रयोगों के लिये दे० क० ग्रं० ति० पद १८४, दादू पृ० ४०९ साखी ४५ आदि।

७२. 'घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए, देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आई थी, उसने इस ख़ानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी और इन दोनों बे-गैरतों का दोजख भरती थी।' कफ़न-प्रेमचन्द।

जिहि मुखबेदु गाइत्री उच्चर सो क्यूं बांम्हन बिसरु करै।
जाके पाइं जगत समलागे सा पंडित जिउघात करै॥
आपन ऊंचनीच घरि भोजनु घीन करम करि उदरु भरहि।
ग्रहन अमावस रुचि रुचि मांगहि कर दीपक है कूप परहि॥७३

अर्थात् ओ मेरे ब्राह्मण, तू भगवान् का नाम क्यों नहीं लेता। राम तो बोलता नहीं बस अपना दोज़ख् (कभी न मरने वाला, गंदगी का आगार, जीवों की क़ब्रगाहरूप पेट) ही भरता रहता है। जिस मुख से वेद और गायत्री का उच्चारण होता है उसे ब्राह्मण कैसे भुला बैठता है। आश्चर्य है कि सारी दुनिया जिसके पैर छूती है वह पण्डित जीव हत्या करता है, घृणित कर्म करके तथा ऊँच-नीच सबके घर भोजन करके अपना पेट भरता है, ग्रहण-अमावस्या को घर-घर माँगता फिरता है और ज्ञान का दीपक हाथ में लिये हुए होने पर भी सांसारिक मोहमाया के अंधकूप में गिरता है। बखना जी ने अपने निम्न पद में स्पष्ट कहा है कि खाने के लिये ही मुल्ला ने रोज़ा-नमाज़ का ढकोसला खड़ा कर रखा है और स्वर्ग को छोड़कर पे (दोजग) के रास्ते चल रहा है—

फुरमाया रे फुरमाया रे भाई, खाण मते ऐसी मन आई॥
आपणि मार आपण ही खावे, पैगम्बर ने दोस लगावे॥
रोजा धर्‌या निवाज गुजारी, सांझ पड्यां थें मुरगीमारी॥
बेमेहर को मेहर न आवे, गले पराये छुरी चलावे॥
बखना बहुत हिरस के घले, भिस्त छोड़ दोजग को चाले॥७४

जब संत गुलाल साहब कहते हैं कि 'आसातृस्ना करे न थीर, दुविधा-मातल फिरत सरीर। लोक पुजावहिं घर घर धाय, दोजख कारन भिस्त गंवाय७५' तो दोजख से उनका तात्पर्य पेट से भी हो सकता है। कबीर जब मुल्ला से खुदाई न्याय पूछते हैं तो वहाँ भी मुल्ला के कुक्कड़ी-बकरी मारने का सविस्तर उल्लेख करके उसे 'दोजग ही मन माना' कहते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन्तों ने इस्लाम धर्म के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग तो किया है पर इस्लाम धर्म एवं दर्शन की अपेक्षा वे भारतीय धर्म-दर्शन से ही परिचित और प्रभावित अधिक हैं और इस प्रभाव को उन्होंने इस्लामी शब्दों में नए अर्थ भरकर अभिव्यक्त किया है।

---

७३. क० ग्रं० ति० पृ० ११४, १९६।
७४. संत सुधासार, खण्ड १, पृ० ५४४, पद १०।
७५. वही, खण्ड २, पृ० १२२, पद ४।

असमके धर्मगुरु महापुरुष शंकरदेव

[एक महान् व्यक्तित्व और बहुमुखी प्रतिभाकी एक झलक]

बापचन्द्र महन्त

मध्यकालीन धर्मगुरु तथा सुधारकों में शंकरदेव भी एक विशिष्ट सुधारक थे। १५वीं ई० शतीके उत्तरार्ध से १६वीं के मध्यभाग तक सौ साल उनका कार्यकाल था। असम के समतल क्षेत्र में भी उस समय ब्राह्मण-कायस्थ आदि कुलीन लोगों की संख्या बहुत कम थी। स्थानीय जन-जातियों में भी एकता स्थापन का माध्यम हिन्दू धर्म ही था। इसलिए धर्म सुधार के साथ साथ सामाजिक ऐक्य स्थापन का दायित्व भी शंकरदेव को पालन करना पड़ा। इस दायित्व का पालन शंकरदेव ने इतनी सफलता से किया कि आज भी असम के समाज और साहित्य में उनकी अद्वितीय प्रतिष्ठा है।

शंकरदेव के सुधार-कार्यों में यह विशेषता थी कि—कला के माध्यम से उन्होंने धर्म का प्रचार किया और धर्म के आदर्श पर कला और समाज की रुचि को मार्जित मानवीय स्तर पर उठाया। ई० १५वीं शती से आजतक पाँच सौ साल के असम के समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण साहित्य, संगीत प्रभृति कलाओं का दिग्दर्शन, तथा साहित्य में निहित दार्शनिक विचारों की व्याख्या के आधार पर ही उनकी कार्य-व्यवस्था और सफलता का अथवा प्रतिभा और व्यक्तित्व का परिचय मिल सकता है। इस लेख में केवल उन विषयों की ओर दृष्टि आकर्षण के लिए सामान्य प्रयास किया गया है।

धर्म :—सच्चे साधक अथवा योग्य पात्र के लिए उनका धर्म दार्शनिक स्तर का होते हुए भी साधारण जन के लिए वह कलापूर्ण तथा आचरण प्रधान जनधर्म है। भक्ति को प्रमुख स्थान मिलने के साथ साथ व्यक्ति की योग्यता के अनुकूल ज्ञान और कर्म को भी स्थान दिया गया है। शंकरदेव प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार नहीं थे ; उनका दार्शनिक आधार भागवत पुराण है। भागवत की तत्त्व मीमांसा में भी वेदान्त और सांख्य का समन्वय हुआ है साधन-मार्ग में श्रवण-कीर्तन भक्ति को प्रमुख स्थान मिला है।

यद्यपि भकति नवविध माधवर
श्रवण-कीर्तन तार मध्ये श्रेष्ठतर ॥

अर्थात् भगवान् की भक्ति यद्यपि नौ प्रकार की मानी जाती है, तो भी उनमें श्रवण और कीर्तन सुगम होने के कारण सबसे श्रेष्ठ हैं।

आगम-पुराण यत वेदान्तर तात्पर्य
आनि करा भकतिक सार
श्रवण-कीर्तन बिना आन पुण्ये नपाय जाना
इटो घोर संसारर पार ॥ [१६७३ वेदस्तुति]

समस्त आगम-पुराण और वेदान्त का तात्पर्य भक्ति में ही है। इसलिए भक्ति को ही सारवस्तु मानो। श्रवण-कीर्तन को छोड़कर दूसरे पुण्यों के फल में इस घोर संसार के पार पहुँचना संभव नहीं।

चरम लक्ष्य अद्वैतवाद के अनुकूल तथा निर्गुण की उपासना है; किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए पहले पहल सगुण अवतार की लीला का गुणगान करना है। शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव ने इसलिए 'नामघोषा' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा है—

परम दुर्बोध आत्म-तत्त्व तार ज्ञान-अर्थे हरि यत
लीला अवतार धरा तुमि कृपामय
ताहान चरित्र सुधासिन्धु ताते क्रीड़ा करि दीनबन्धु
चारिपुरुषार्थ तृणर सम करय ॥ ६४३ ॥

अर्थात्-अत्यन्त दुर्बोध आत्मतत्त्व को समझाने के लिए भगवान् कृपापूर्वक लीलावतार के रूप में प्रगट होते हैं। भगवान् के लीलारूप अमृत के समुद्र में जो स्नानादि क्रीड़ा करते हैं— भगवान् की लीला में मस्त हो जाते हैं, उनके लिए चारों पुरुषार्थ तृणवत् तुच्छ हो जाते हैं। अतः भगवान की लीला आत्मतत्त्व तथा मुक्ति का साधन है। श्रवण कीर्तन की विषयवस्तु यही लीला है।

लीलावाद भक्ति को जनसाधारण के स्तर में फैलाने का सहज साधन है। दशमस्कन्ध भागवत के पूर्वार्ध में शंकरदेवजी ने इसके उदाहरण के रूप में लिखा है—

देखा किनो बिपरीत लीला माधवर
यिटो ब्रह्म बुलिकन्त ज्ञानर गोचर ॥
यिटो अन्तर्यामी यज्ञ भोक्ता भगवन्त
हेन हरि गोपशिशु लगत भुंजन्त ॥ ४०१ ॥

भावार्थ :—देख लो भगवान् की लीला कैसी है। जो ब्रह्म ज्ञान का भी विषय नहीं है,

यज्ञ में भी जिस भगवान् के लिए हवन किया जाता है, वही हरि (भगवान्) गोपशिशु के साथ भोजन करते हैं। इससे नर में ही नारायण का आभास मिल जाता है।

पूर्ण पुरुषोत्तम कृष्ण की लीला सगुण उपासना के मार्ग में साधन होने पर भी अन्यान्य वैष्णव संप्रदायों की भाँति शंकरदेव के संप्रदाय में राधा, सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी किसी को स्थान नहीं मिला। भागवत पुराण में भी युगल-उपासना का विधान नहीं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अतीत अनादि परमपुरुष या महापुरुष की ही उपासना की व्यवस्था भागवत में दी गई है। इस प्रकार महापुरुष की एकमात्र उपासना करने के कारण शंकरदेव के संप्रदाय का नाम भी महापुरुषीया हुआ और शिष्य अपने गुरु को महापुरुष मानने लगे। शंकरदेव की परंपरा में आने के कारण माधवदेव, दामोदरदेव, हरिदेव प्रभृति परवर्ती गुरुओं को भी महापुरुष कहा गया है।

शंकरदेव के लिखे 'केलिगोपाल' नामक एक नाटक में (इस नाटक की विषय-वस्तु रासलीला है) एकबार मात्र 'राधा' नाम का उल्लेख है। इसको छोड़ दें तो शंकरदेव के विस्तृत साहित्य में कहीं भी राधा नाम का उल्लेख नहीं है। भागवत पुराण, विष्णु-पुराण प्रभृति में भी राधा नहीं थी ; किन्तु कुछ वैष्णव सम्प्रदायों में राधा को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है। असम के निकट चैतन्य देव के संप्रदाय में तो राधाभाव को सबसे श्रेष्ठ साधन माना गया है ; किन्तु शंकरदेव पर किसी प्रकार का सहजिया प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार कुछ बातों से अनुमान होता है कि भारतवर्ष के दूसरे वैष्णव आचार्य और सन्तों की अपेक्षा शंकरदेव का साधन-मार्ग भागवत-पुराण के अधिक अनुकूल है।

साहित्य आदि कला :—शंकरदेव संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और बारह वर्षों के लंबे भारत भ्रमण का भी उनका अच्छा अनुभव था। इसलिए समकालीन सामाजिक चेतना के अनुकूल धार्मिक तथा सामाजिक संगठन भी किया। संस्कृत में उन्होंने कम लिखा, उनके विस्तृत साहित्य का माध्यम जन भाषा ही रही। शंकरदेव की जनभाषा के दो रूप हैं—एक तो समकालीन कामरूप की साहित्यिक भाषा या प्राचीन असमिया है ; दूसरा रूप है ब्रजावली। ब्रज, अवधी, भोजपुरी प्रभृति उत्तर भारत की बोलियों से शब्द चुन चुन कर स्थानीय भाषा में भर लिये गए हैं। इससे सारे वह भाषा उत्तर भारत के लोगों की समझ में आसानी से आ जाती है। इस ब्रजावली भाषा के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

(क) उद्धव बन्धु मधुपुरी रहल मुरारु॥
काहे नाहेरि रहब अब जीवन
बन भयो भवन हमारु॥

याहे वियोग आगि अंग तावय
तिल एकु रहए न पारि।
सोहि ब्रजसूर दूरगयो गोविन्द
दिशदश दिवसे आन्धारि॥ (बरगीत)

भावार्थ :—हे मित्र उद्धव! मुरारि (कृष्ण) तो मथुरा में रहने लगे। अब हम किसको देखकर जीवित रह सकती हैं, हमारे लिए तो घर भी जंगल बना। जिसके विरह की आग हमें जला रही है, हम जिसके विरह में एक तिल भी रह नहीं सकतीं, वह ब्रज के सूर्य कृष्ण ही जब हमसे दूर हैं, तो हमारे लिए सभी दिशाएँ दिन में भी अन्धकारपूर्ण हैं।

(ख) विश्वामित्र बोल :—अये दशरथ! तुहु रामक चरित किछु जानये नाहि। योग बले हामु सब जानो। ओहि रामचन्द्र परमईश्वर। हरिक अवतार। असुर राक्षसक मारि भूमिक भार उतारब। इहा जानि किछु चिन्ता नाहि करबि। सत्य राखि सत्वरे रामलक्ष्मणक हामार संगे पठाव। (रामविजयनाटक से)

तत्त्वपूर्ण बातें तथा काव्य स्थानीय भाषा में लिखे गये; किन्तु गीत, नाटक, भट्टिमा प्रभृति में ब्रजावली का ही व्यवहार हुआ। हरिश्चन्द्र उपाख्यान, रुक्मिणी हरण प्रभृति काव्य, रामायण का उत्तरकाण्ड भागवत पुराण के बहुत अंशों के चुने हुए अनुवाद, बरगीत [शास्त्रीय गीत] और कीर्तन उनकी प्रमुख रचनाएं हैं। रुक्मिणी-हरण, केलिगोपाल, पारिजातहरण, रामविजय, कालीयदमन और पत्नी प्रसाद उनके नाटक हैं। कीर्तन शंकरदेव का सबसे जनप्रिय ग्रंथ है। कीर्तन की रचना भागवत प्रभृति प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर तथ्य तथा लीला विषयक गेय पदों के रूप में की गई।

शंकरदेव के साधनों में सबसे प्रमुख स्थान साहित्य को ही मिलेगा—इसमें संदेह नहीं। आज भी असम में शंकरदेव के साहित्य का जो प्रभाव है, उसके पास कोई साहित्यकार पहुँच नहीं सका। इस यान्त्रिक युग में भी शंकरदेव से अधिक शायद असम के किसी साहित्यकार ने नहीं लिखा। मूर्द्धन्य विद्वानों से निरक्षर लोगों तक सभी पर शंकरदेव के साहित्य का गहरा प्रभाव है। निरक्षर लोग साक्षरों से सुनकर भी शंकरदेव का साहित्य कंठस्थ कर लेते हैं। सुबह नींद खुलने के समय से रात को नींद आने तक बीच बीच में अपने काम में व्यस्त रहते समय भी लोग शंकरदेव के साहित्य का व्यवहार गेय पदों के रूप में करते हैं। धार्मिक साहित्य लोक गीतों के समान व्यापक और जनप्रिय बन गया। उत्तर भारत में शास्त्रीय गीतों के क्षेत्र में सूर, तुलसी, मीरा प्रभृति का जो स्थान है, असम में शंकरदेव और उनके शिष्य माधव

देव का भी शास्त्रीय गीतों में वही स्थान है। शंकरदेव और माधवदेव के बरगीतों के संबंध में गवेषणा का क्षेत्र अब भी पड़ा हुआ है।

शंकरदेव के आदर्श पर माधवदेव ने भी छः नाटक लिखे। रामचरण ठाकुर, दैत्यादि ठाकुर, भवानीपुरीया गोपाल आता प्रभृति ने भी कुछ नाटक शंकरदेव के अनुकरण पर लिखे और नाटक लिखकर अभिनय करने की परंपरा तब से आज तक चल रही है। वैष्णव आदर्शों का प्रचार करना और भगवान की लीला का अभिनय कर भक्ति भावना की वृद्धि करना नाटकों का उद्देश्य रहा। बाद के लेखक ब्रजावली भाषा का व्यवहार नहीं कर सके। आज भी गाँव के नामघरों में इन नाटकों का अभिनय बहुत जनप्रिय है। अभिनय कला के साथ गीत, नृत्य और वाद्य की भाँति, मूर्ति तथा चित्र-कला का भी सम्बन्ध है। इस प्रकार धर्म के आश्रय पर शिल्प और कला का विकास साधन शंकरदेव के समाज-संगठन की एक विशेषता है।

समाज :—असम के हिन्दू-समाज का स्नायुकेन्द्र नामघर है। धर्म गुरुओं के प्रचार केन्द्र तथा वासस्थान सत्रों के आदर्श पर नामघर गाँवके लोगों के बीच भी सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रूप देता है। नामघर हरिमन्दिर का एक विशेष संस्करण है। इसमें मूर्ति तथा पूजा की प्रधानता नहीं। पूजा के स्थान पर कीर्तन और शास्त्रपाठ [भागवत धर्म के प्रतिपादक ग्रंथों के असमिया पद्यानुवाद का पाठ] होते हैं। सत्रों के नामघरों के अतिरिक्त गाँव के नामघरों में भी भागवत की स्थापना, कीर्तन, अभिनय प्रभृति होते हैं; किन्तु मूर्ति स्थापना और पूजा का निषेध न होने पर भी बहुत से सत्रों में मूर्तिपूजा की व्यवस्था नहीं। मूर्ति का स्थान नाम घरों में भागवत ने ले लिया है। भागवत का अर्थ यहाँ केवल भागवत पुराण नहीं, भागवत धर्म प्रतिपादक ग्रंथ सभी 'भागवत' कहलाते हैं। विशेषकर शंकरदेव के लिखे 'कीर्तन' और माधवदेव के लिखे 'नामघोषा' की प्रतिष्ठा भागवत के स्थान में होती है। मूल संस्कृत भागवत की भी कीर्तन या नामघोषा के समान प्रतिष्ठा नहीं है। सिक्ख सम्प्रदाय में गुरु ग्रंथ साहब को जो स्थान मिला वही स्थान महापुरुषीया सम्प्रदाय में भागवत को मिला। नानकजी और शंकरदेव दोनों समसामयिक व्यक्ति थे। शंकरदेव का जन्म नानकजी से करीब बीस साल पूर्व ई० सन् १४४९ में माना जाता है।

पूजा सब लोग नहीं कर सकते। इस लिए पूजा सार्वजनीन साधनमार्ग नहीं हो सकती; किन्तु श्रवण-कीर्तन भक्ति के सभी अधिकारी हैं। भगवान की लीला का अभिनय सब जाति के लोग कर सकते हैं और नामघर में सब लोग एकत्र हो सकते हैं। नामघर के समाज में जाति-भेद का महत्त्व नहीं। यही कारण है कि शंकरदेव की शिष्यपरंपरा में अहिन्दू जनजातियों के लोग आ सके। इन जातियों में गारो, भोट, नागा प्रभृति पहाड़ी जनजातियों के लोग भी

हैं। मैदान में बसी हुई जातियों में मिरि, कछारी और आहोम प्रमुख जातियाँ हैं। पहले आहोम राजा शंकरदेव के विरोधी थे—

किरात कछारी खासी गारो मिरि
यवन कंक गोवाल
असम मुलुक धोवा ये तुरुक
कुवाच म्लेच्छ चंडाल ॥४७४॥
आनो पापी नर हरि भकतर
संगत पवित्र हय।
भकति लभिया संसार तरिया
वैकुंठे सुखे चलय ॥४७५॥ (भागवत, स्कन्ध २ से)

अर्थात् इन सभी जातियों के लोग तथा अन्यान्य पापी लोग भी हरि भक्तों के साथ रहकर पवित्र हो जाते हैं और भक्ति के द्वारा संसार के क्लेशों से मुक्त होकर वैकुंठ को जा सकते हैं।

कोच राजा नरनारायण भी विरोधी थे ; किन्तु कम समय के भीतर नरनारायण शंकरदेव के पृष्ठपोषक बने। परवर्ती कुछ आहोम राजा भी शंकरदेव की शिष्य परंपरा में आए थे। चाँदसाईं नामक एक मुसलमान भी शंकरदेव का शिष्य बना था। धर्म ग्रहण के क्षेत्र में जाति प्रथा का प्रभाव बहुत कम था। जो स्मार्त विधानों का पालन करते थे वे भी शंकरदेव के शिष्य बनते थे और जो पहले से ही स्मार्त विधानों के बंधन में नहीं थे वे भी महापुरुषीया बन सकते थे। शंकरदेव की परंपरा के परवर्ती अनेक गुरुओं के समय में लाखों जनजाति के लोग हिन्दू बनकर एक भारतीय समाज के भीतर आये। यदि ऐसा न होता तो आज का असम राज्य पूर्व पाकिस्तान का एक हिस्सा बनता। असम के करीब नब्बे प्रतिशत हिन्दू महापुरुषीया वैष्णव हैं। नामघर हिन्दू गाँव का परिचायक है।

नामघर में सामूहिक प्रार्थना (कीर्तन) के बाद फलाहार का प्रसाद मिलता है। इसमें भिगोया हुआ महीन चावल, मूँग, चने, नारियल आदि का परिमाण अधिक रहता है। मद्य-मांस भक्षी जनजातियों के समाज में सात्त्विक वातावरण के लिए फलाहारों के प्रसाद की व्यवस्था बहुत फलप्रद हुई। वैष्णव जातियों के खान-पान आचार-नीतियों में भी बहुत परिवर्तन आये।

शंकरदेव स्वयं ब्राह्मण नहीं थे। वे जाति के कायस्थ थे। शंकरदेव के प्रमुख शिष्य और उत्तराधिकारी माधवदेव भी कायस्थ थे। उन दोनों से धर्म ग्रहण कर अनेक ब्राह्मण तथा कायस्थ जाति के लोग गुरु बने। शंकरदेव से धर्म ग्रहण कर ब्राह्मण दामोदरदेव और हरिदेव ने उसका प्रचार किया। दामोदरदेव और माधवदेव की आज्ञा से वंशीगोपालदेव नामक ब्राह्मण गुरु बने।

आउनीआटी, गड़मूर, कुरुवाबाही प्रभृति प्रसिद्ध सत्र इनकी परंपरा में बने। शंकरदेव और माधवदेव की परंपरा में आये अन्यान्य महन्त या गुरुओं में प्रमुख पुरुषोत्तम ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर (ये दोनों शंकरदेव के नाती थे) भवानीपुर के गोपालआता और पद्मआता जाति के कायस्थ थे। पुरुषोत्तम ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर, चतुर्भुज ठाकुर की पत्नी कनकलता और भवानीपुर के गोपाल आता प्रत्येक ने छः ब्राह्मण और छः कायस्थों को गुरु बनाकर धर्म प्रसार के लिए स्थान स्थान पर भेजा। उनकी परंपरा के लोग आज भी असम के कोने-कोने में भरसक अपना काम कर रहे हैं। अब्राह्मण गुरु की शिष्य परंपरा में ब्राह्मणों का होना महापुरुषीया धर्म की एक विशेषता है।

सत्र और गाँव के नामघर की परिचालना कार्यों में भाग लेने के लिए अनेक पद होते हैं। सभी जाति के लोग इन पदों के अधिकारी होते हैं। नामघरों में वास्तु मूर्ति और चित्रकला के भी अच्छे नमूने मिलते हैं। राजनीति को छोड़कर सभी प्रकार के सामाजिक जीवन का सत्र प्रशिक्षण केन्द्र बने थे। आजकल पहले की भाँति सत्रों में संगठन की शक्ति नहीं रही; तो भी यह स्पष्ट जान पड़ता है कि गाँवों के पुस्तकालय, दवाखाने, कलाकेन्द्र और साधारण शिक्षा का विद्यालय प्रभृति सामाजिक जीवन की सभी व्यवस्थाएँ सत्रों के हाथ में थीं। सत्रों के आदर्श पर ही असम का समाज सुव्यवस्थित तथा विकसित हुआ। आज के पंचायत प्राचीन सत्रों के स्तर तक अबतक नहीं पहुँचे।

धर्मगुरु, कवि, नाट्यकार, अभिनेता, गायक और समाज सुधारक बनने की प्रतिभा का एक ही व्यक्ति में प्रदर्शन बहुत कम होता है। भारत के इतिहास में भी शायद ऐसे व्यक्ति बहुत नहीं मिलेंगे। असम के इतिहास में तो कोई व्यक्ति शंकरदेव के समान नहीं निकला। धर्म और साहित्य के क्षेत्र में शंकरदेव को बीच में रखकर युग विभाजन किया जाता है। असमिया समाज का इतिहास भी इस प्रकार प्राक्शंकरी, शंकरी तथा उत्तरशंकरी युग के नामों से विभाजित होगा। ऐसे महान् व्यक्तित्व के कारण असम के वैष्णव-अवैष्णव, हिन्दू-अहिन्दू सभी जाति के लोग शंकरदेव के नाम पर नतमस्तक हो सकते हैं।

बौद्ध ग्रन्थों का एक कुचर्चित व्यक्तित्व : देवदत्त

(चरित्र का सही मूल्यांकन)

गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र

जिस प्रकार हिन्दू धर्मग्रन्थों में देवों और असुरों का उल्लेख अथवा बाइबिल में क्राइस्ट और शैतान का उल्लेख शिव और अशिव के प्रतीकों के रूप में किया जाता है, बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध और देवदत्त प्रायः उसी प्रकार के विरोधी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हीनयान सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में देवदत्त का चरित्रांकन एक दुष्टात्मा तथा संघभेदक के रूप में है जिसका कल्प भर नरकवास निश्चित है। पालि विनयपिटक में देवदत्त के तीन असद्धर्म बताए गए हैं—पपिच्छता, पापमित्रता तथा थोड़ी-सी विशेषता प्राप्त होने से अन्तरा व्यवसान (इतराना)। यहां उसके संघ नेतृत्व की अभिलाषा, तज्जनित प्रेरणा से किये गये संघभेद एवं सिद्धियों के दुरुपयोग की ओर संकेत है। समय बीतने के साथ-साथ इस व्यक्ति की निन्दा में भी वृद्धि दीख पड़ती है —उदाहरणार्थ जातकों में देवदत्त के लिए पूर्वग्रन्थों की अपेक्षा अधिक तिरस्कार-पूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

पालि विनय पिटक के अन्तर्गत चुल्लवग्ग के सातवें अध्याय (संघभेदककखन्धक) में देवदत्त के बारे में कुछ विस्तार के साथ वर्णन है। किन्तु यहां सिवा इसके कि वह शाक्य कुल का था उसके माता पिता के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। स्पेन्स हार्डी द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर उसके पिता का नाम सुप्रबुद्ध था तथा उसकी माता शुद्धोदन की सहोदरा थी (द्रष्टव्य, मेनुअल आफ बुद्धिज्म, पृ० ३२६)। राकहिल के अनुसार (द्र०, लाइफ आफ बुद्ध, पृ० १३) वह अमृतोदन का पुत्र था। विनय में वर्णित देवदत्त का चरित संक्षेपतः इस प्रकार है देवदत्त संघ में भद्दिय, अनुरुद्ध आदि शाक्यों के साथ प्रव्रजित हुआ। शीघ्र ही तपश्चर्या द्वारा उसने सिद्धियां प्राप्त कर ली। उसके मन में संघनेतृत्व पाने की अभिलाषा जगी और उसने बुद्ध से अनुरोध किया कि चूंकि उनकी वृद्धावस्था आ गई है अतः उचित है कि वह उसे अपना उत्तराधिकारी चुन दें। बुद्ध ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और राजगृह में उसका प्रकाशनीय कर्म कर दिया अर्थात संघीय बैठक में इस बात की घोषणा की गई कि चूंकि अब देवदत्त के स्वभाव में परिवर्तन आ गया है, अतः संघ उसके किसी कार्य के लिये उत्तरदायी नहीं है। देवदत्त ने कुछ चमत्कारों का प्रदर्शन कर मगध के राजकुमार अजातशत्रु को अपने पक्ष में कर लिया जिसने उसकी प्रेरणा से अपने पिता श्रेणिय बिम्बसार की हत्या का भी प्रयत्न किया। स्वयं देवदत्त ने भगवान् बुद्ध को मारने के लिए अनुचर भेजे पर

वे असफल रहे। एक दिन गृध्रकूट पर्वत की छाया में भ्रमण करते हुए भगवान् बुद्ध के ऊपर उसने उन्हें मारने की चाह से एक बड़ी शिला फेंकी। किन्तु भगवान् बच गए यद्यपि उनके अंगूठे में कुछ चोट लगी। फिर उसने एक पागल हाथी को उनके ऊपर छोड़ा पर बुद्ध के मैत्री चित्त के कारण उस गजराज ने उन्हें कोई हानि न पहुँचायी। सभी प्रयत्नों में असफल होकर देवदत्त ने बुद्ध को उन्हीं के घर में पराजित करने का निश्चय किया। उसने कोकालिक, कटमोदक, तिस्सक और खण्डदेवीपुत्र—समुद्रगुप्त से विमर्श किया कि बुद्ध से पाँच वस्तुओं की अनुमति देने को कहा जाय। जिन्हें वह किसी प्रकार स्वीकार न करेंगे और तब हम भिक्षुओं को समझा-बुझा कर अपने पक्ष में कर लेंगे: ये पांच वस्तुएँ थीं :— (क) भिक्षु आजीवन आरण्यक रहें, (ख) पिण्डपातिक रहें, (ग) पांसुकूलिक रहें, (घ) वृक्षमूलों पर ही वासस्थान बनाएँ तथा (च) मत्स्य मांस न खाएं। आशानुसार बुद्ध ने इन वस्तुओं को अस्वीकार कर दिया (क्योंकि वे नियम उनके मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त के विरोधी थे)। अब देवदत्त ने घूम-घूम कर इस बात का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया कि बुद्ध ने तपस्वी जीवन के इन प्रत्यक्ष नियमों का विरोध किया है। अधिक संख्या में लोग देवदत्त के अनुयायी बन गए जिन्हें अपने साथ ले जाकर देवदत्त ने वैशाली में उनका पृथक् उपोसथ किया और इस बात के लिए शलाका ग्रहण कराई कि उन्हें ये पाँचों बातें स्वीकार्य हैं। तत्पश्चात् वह अपने अनुयायियों के साथ गयाशीर्ष पर्वत पर गया जहां वह स्वयं धर्मदेशना करने लगा। बाद में शारिपुत्र और मौद्गल्यायन वहां जा कर पथभ्रष्ट भिक्षुओं के वापस लाने में सफल रहे। कहा गया है कि इस पराजय की पीड़ा से देवदत्त के मुख से गर्म रुधिर बहा।

संक्षेप में विनयपिटक ने इस प्रकार देवदत्त का कुत्सित चरित्र प्रस्तुत किया है। इस वर्णन का उद्देश्य उसे एक ऐसा व्यक्ति प्रमाणित करना है जिसने संघ नेतृत्व की पापेच्छा से प्रेरित होकर भगवान् बुद्ध को कई बार मारने का असफल प्रयत्न किया, जिसने बुद्ध के सम्मुख जान कर ऐसे प्रस्ताव रखे जो उन्हें स्वीकार्य न हों, जिसने तमाम भिक्षुओं को पथभ्रष्ट करने का प्रयास किया पर अन्त में अपने उद्देश्य में असफल रहा। इस लेख का उद्देश्य उपरोक्त वर्णन को ऐतिहासिक तथ्यों की कसौटी पर कस कर इन निर्णयों की सत्यता अथवा असत्यता का अवलोकन है।

सन् १९२३ में ए० एम० होकर्ट ने एक लेख (द्रष्टव्य, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ५२, पृ० २६७-२७२) में यह इंगित करने का प्रयास किया कि यह उपाख्यान केवल तत्कालीन समाज में प्रचलित सपिण्ड विवाह (Cross-Cousin) प्रथा की ओर संकेत करता है जिसके अन्तर्गत एक दूसरे को अपशब्द कहने का रिवाज था। बुद्ध और देवदत्त फुफेरे भाई (Cross-Cousin)

थे अतः बुद्ध द्वारा देवदत्त के लिए अपशब्दों का प्रयोग कोई अचम्भे की बात नहीं है। इस प्रसंग में लेखक ने विनयपिटक के उस अंश की ओर ध्यान आकर्षित कराया है जिसमें देवदत्त बुद्ध के पास आदरपूर्वक आता है पर बुद्ध उसे गालियों से (छवस्स, खेलासकस्स=शव, थूक चाटने वाला) संबोधित करते हैं। लेखक का आग्रह है कि बुद्ध जैसे चरित्र द्वारा इस प्रकार का व्यवहार अन्यथा नहीं समझा जा सकता। आगे उसका कथन है कि यदि इस उपाख्यान का उद्देश्य बुद्ध और देवदत्त के बीच विरोध प्रदर्शन मात्र था तो देवदत्त को अलौकिक शक्तियों एवं सिद्धियों द्वारा भूषित करने का क्या अर्थ हो सकता है? सिद्धार्थ (बुद्ध का बोधि प्राप्ति के पूर्व का नाम) और देवदत्त सामान्यावस्था में एक दूसरे के लिए इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करते रहे होंगे जिसका इस उपाख्यान में प्रदर्शन है।

पत्रिका के अगले अंक में ही (इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द ५३, पृ० १२५-१२८) कालिपद मित्र ने होफर्ट के मत का समुचित उत्तर दिया। उन्होंने इस प्रथा का अस्तित्व तो स्वीकार किया पर इसके आधार पर प्रतिष्ठित होफर्ट की अन्य मान्यताओं की ठीक ही आलोचना की। बुद्ध द्वारा किसी के लिए अपशब्दों के प्रसंग में यह अकेला उदाहरण नहीं है। विनय में ही एक अन्य स्थान पर (द्रष्टव्य, चुल्लवग्ग, नालन्दा संस्करण, पृ० २००) बुद्ध ने चमत्कार प्रदर्शन करने पर पिण्डोल भारद्वाज की करीब-करीब इन्हीं शब्दों में भर्त्सना की है। ये उल्लेख बुद्ध द्वारा शिष्य के किसी कुकृत्य की अपेक्षाकृत कुछ कठोर शब्दों में भर्त्सना मात्र सूचित करते हैं। जहाँ तक देवदत्त का सिद्धियों से अलंकृत होने का प्रश्न है, बुद्धशील सभी अन्य प्रमुख श्रमणों द्वारा अलौकिक शक्तियों के स्वामी होने का दावा किया गया है (द्र०, चुल्लवग्ग, पृ० १९९, अहं हि......... अरहा चेव इद्धिमा च......... ;)। इस प्रकार बुद्ध के काल में ममेरे विवाह (Cross Cousin) की प्रथा के अस्तित्व में विश्वास करने पर भी होफर्ट के निर्णयों को स्वीकार करना कठिन है।

एक अन्य लेख में (द्र० 'देवदत्त एण्ड हिज लाइफ', जरनल आफ द बाम्बे ब्रांच आफ द रायल ऐसियाटिक सोसायटी, नवीन श्रेणी, जिल्द २०, १९४४, पृ० ६१-६४) वी० वी० गोखले ने देवदत्त विषयक उपाख्यान का सही रूप देने का प्रयत्न किया है। धम्मपद-अट्ठकथा एवं तकाकुसु की परम्परा को उद्धृत करते हुए आपने इस निर्णय की स्थापना की है कि देवदत्त अपनी इच्छा के विपरीत दबाव में पड़कर बुद्ध के संघ में प्रव्रजित हुआ था। लेखक का कथन है कि इस तथ्य विशेष को स्मरण रखने पर देवदत्त के बाद के कृत्य आसानी से समझे जा सकते हैं। उसका कथन है कि ग्रन्थों में उल्लिखित कुछ स्पष्टतः विरोधी बातें—जैसे बुद्ध अहोनि होने के बावजूद उसकी लोकप्रियता, कठोर नियमों के प्रश्न पर संघ-भेद करना तथा

अजातशत्रु को पितृ हत्या के लिए प्रेरित करना—स्वभावतः मन में प्रश्नचिन्ह उठाती हैं। सम्भव है देवदत्त विषयक मूल एवं सही उपाख्यान हम तक नहीं पहुँचा है। लेखक की पहली मान्यता से ऐसा लगता है कि वह बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित देवदत्त के कृत्यों की सत्यता पर काफी विश्वास करता है वैसे कुछ गड़बड़ी की सम्भावना को वह एकदम नहीं हटा देता।

विनय के आन्तरिक प्रमाणों के साथ साथ कुछ अन्य तथ्यों को साथ रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपाख्यान में काफी तोड़ मरोड़ किया गया है और वस्तुस्थिति को अभिप्राय-वश इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि देवदत्त का चरित्र एक बुरे व्यक्ति के रूप में उभरे। यहां हम देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या सच ही देवदत्त एक बुरा व्यक्ति था और क्या उसके इन सभी कार्यों के पीछे बुरे विचार काम कर रहे थे? जहां तक बुद्ध को पत्थर से मारने अथवा उन्हें मारने के लिए अनुचर भेजने की कथा है यह अनुमान किया जा सकता है कि यह बाद के ग्रन्थकारों के मस्तिष्क में उनके पूर्वाग्रहों के कारण उपजी। पर उसके अन्य कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य के बारे में क्या कहा जा सकता है? एक एक करके सभी बातों पर विचार करने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो सकेगी।

बुद्ध के युग में ऐसा दृढ़ विश्वास व्याप्त था कि तपश्चर्या से विभिन्न प्रकार की सिद्धियां प्राप्त होती हैं जिनकी सहायता से मनुष्य असम्भव कार्यों को सम्पादित कर सकता है। ऊपर बताया जा चुका है कि किस प्रकार बुद्ध के समकालीन सभी प्रमुख श्रमण सिद्धियों के स्वामी होने का दावा करते थे। विनयपिटककार द्वारा देवदत्त की सिद्धियों में विश्वास किया जाना ही इस बात का समर्थन करता है कि उसने कठिन तपस्या की थी और उसकी तपश्चर्या की काफी प्रसिद्धि थी। वह लोकप्रिय था; मागध राजकुमार अजातशत्रु उसका पक्षपाती था। इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं कि देवदत्त ने श्रद्धापूर्वक चित्त लगा कर तपस्या की थी। इस प्रसंग में इस बात से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता कि वह अपनी इच्छा से अथवा अपनी इच्छा के प्रतिकूल (जैसा वी० जी० गोखले ने सिद्ध करने का प्रयास किया है) संघ में प्रव्रजित हुआ था।

अब हम विनयपिटक के उस अंश को लें जिसमें देवदत्त बुद्ध से स्वयं को संघ के नेतापद के लिए उत्तराधिकारी बनाने की प्रार्थना करता है। उसने आग्रह किया :— "भगवान् अब वृद्ध हो गए हैं, अब भगवान् निश्चिंत हो जन्म के सुख विहार के साथ विहरें, भिक्षु संघ का भार मेरे ऊपर छोड़ें, मैं भिक्षु संघ को ग्रहण करूंगा। बुद्ध ने उसे डांटा। देवदत्त की इस प्रार्थना में तत्कालीन श्रमण परम्परा के साथ कोई असंगति नहीं है। उस समय बहुत से श्रमण धर्म भिक्षुक हुआ करते थे जिनमें प्रत्येक के पीछे शिष्यों की अच्छी खासी भीड़

करता था जो सत्यान्वेषण हेतु उनके पास आते थे और जिनकी वे महन्ताई करते थे। सत्य दर्शन के पूर्व स्वयं बुद्ध ऐसे कई शिक्षकों के पास गए थे। महावग्ग (द्र० नालन्दा संस्करण, पृ० २६) में उल्लिखित उरुवेल कस्सप, नदी कस्सप तथा गया कस्सप नामक जटिल धर्म शिक्षक क्रमशः ५००, ३०० एवं २०० जटिल तपस्वियों के नायक बताए गए हैं। राजगृह के सञ्जय नाम परिव्राजक के पास ढाई सौ शिष्यों की भीड़ थी और जब शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन उसके पास अपने इस निश्चय की सूचना देने गए कि उन्होंने बुद्ध को अपना गुरु मान कर उनके पास जाने का निश्चय किया है तो उसने उन्हें यह प्रलोभन दिया कि यदि वे रुकें तो तीनों साथ ही गण (संघ) की महन्ताई करेंगे (अलं आवुसो, मा अगमित्थ, सब्बेव तयो इमं गणं परिहरिस्सामाति, महावग्ग, नालन्दा संस्करण, पृ० ४१)। सामान्यतया ये गणाध्यक्ष अपने जीवनकाल में ही अपने उत्तराधिकारी को चुन लेते रहे होंगे। इस प्रथा को ध्यान में रखते हुए ही देवदत्त बुद्ध के पास गया होगा। उत्तराधिकार की समस्या से न केवल बुद्ध के शिष्य चिन्तित थे, प्रत्युत् संघ के बाहर के लोग भी इस विषय में विशेष रूप से उत्सुक थे कि बुद्ध के बाद संघ का नेता कौन होगा। (द्र०, मज्झिमनिकाय, गोपक मोग्गलानसुत्त) यह बुद्ध का तत्कालीन प्रथा से पृथकत्व था कि उन्होंने व्यक्ति विशेष के स्थान पर धर्म को ही संघ का निरीक्षक बनाया। यह बौद्ध संघ की अपनी विशिष्टता थी।

देवदत्त ने बुद्ध के सम्मुख भिक्षुओं के लिए पांच अपेक्षाकृत कठिन नियमों का प्रस्ताव रखा। क्या इन नियमों का प्रस्ताव संघभेद की भावना मात्र से प्रेरित हो कर किया गया था? इस प्रस्ताव को रखते समय देवदत्त ने बुद्ध से तर्क किया कि स्वयं भगवान् अनेक प्रकार से अल्पेच्छ, संतुष्ट, सल्लेख (तप), धुत (त्यागमय जीवन. अपचय (त्याग) एवं वीर्यारम्भ (उद्यम) के प्रशंसक हैं अतः उन्हें इन पांच नियमों की स्वीकृति देनी चाहिये। (भगवा, भन्ते अनेक परियायेन अप्पिच्छस्स संतुट्ठस्स सल्लेखस्स धुतस्स पासादिकस्स अपचयस्स विरिया रम्भस्स वण्णवादी, चुल्लवग्ग, पृ० २९८)। इस युग में यह विश्वास प्रचलित था कि कठोर तपश्चर्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रसंग में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं का बुद्ध के प्रति उस समय का कथन उल्लेखनीय है जब वे ज्ञानदर्शन के बाद प्रथम बार उनसे मिले और ज्ञान प्राप्ति का दावा किया। उनका कहना था कि जब तुम्हें पहले कठिन तपश्चर्या से मोक्ष न मिला तो अब आराम से जीवन यापन करने पर तुम्हें इसकी प्राप्ति कैसे हो गई (महावग्ग, नालन्दा संस्करण, पृ० १२)। चारों ओर श्रमण संघों में कठोर तपश्चर्या के विधान के बीच बौद्ध संघ का मध्यम मार्ग द्वारा निरूपित अपेक्षाकृत सरल जीवन कुछ अजीब-सा लगता होगा। उल्लेखनीय है कि जैन अपने दृष्टिकोण से बौद्धों के विरुद्ध विलासी जीवन का अभियोग लगाते

थे। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर देवदत्त के प्रस्ताव में विचारों की शुद्धता देखी जा सकती है; उसने सच ही यह महसूस किया होगा कि बौद्ध संघ के नियम बड़े ही सरल हैं और कठिन श्रमण जीवन से मेल नहीं खाते।

इस प्रकार इस बात की अधिक सम्भावना है कि देवदत्त ने केवल महत्ताई के लोभ में आकर संघभेद नहीं किया अपने उन विचारों को कार्यान्वित करने के लिए किया जिनमें उसे वस्तुतः विश्वास था। वह एक साहसपूर्ण कदम था। अब रही उसकी सफलता की बात। विनयपिटक के कथनानुसार वह अपने प्रयत्न में असफल रहा और सारिपुत्र तथा मोग्गल्लान सभी भिक्षुओं को वापस लाने में सफल हुए जिसकी व्यथा से देवदत्त के मुख से खून निकला। यह अतिशयोक्तिपूर्ण कथन लगता है। कुछ अन्य प्रमाणों से ज्ञात होता है कि उसका प्रभाव इतना क्षणिक नहीं था जितना हीनयानी ग्रन्थकार बताते हैं। जैन ग्रन्थों में बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ 'गोतमक' भिक्षुओं का उल्लेख संभवतः देवदत्त के अनुयायियों की ओर संकेत करता है। देवदत्त का (जैसा कि बुद्ध का भी था) भी गोत्र गौतम' था। बौद्ध भिक्षुओं के साथ साथ यह नाम निश्चय ही बुद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य गोतमगोत्रीय के अनुयायियों की ओर संकेत करता है। चीनी यात्री फाह्यान ने जो पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत आया था, श्रावस्ती में देवदत्त के अनुयायियों के होने का उल्लेख किया है जो अन्य पूर्व बुद्धों की तो पूजा करते थे पर शाक्य मुनि की नहीं (द्र०, एच० एस० जाइल्स; द ट्रैवेल्स आफ फाह्यान, द्वितीय संस्करण, १९५६, पृ० ३५-३६)। इस प्रकार बुद्ध की मृत्यु के १००० वर्ष बाद तक तो देवदत्त का प्रभाव स्पष्ट ही दीख पड़ता है।

कुछ अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में देवदत्त की स्मृति स्थविरवादी भिक्षुओं की अपेक्षा अधिक आदर के साथ संजोई गई है। उदाहरणार्थ, सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है कि बुद्ध के मार्ग में अड़चनें डाल कर देवदत्त ने बुद्ध को लक्ष्य प्राप्ति में सहायता की थी और वह भावी बुद्धों में एक होगा (सद्धर्मपुण्डरीक, सेक्रेड बुक्स आफ द बुद्धिस्टस, जिल्द २१, पृ० २४६-२४७)।

ऐसा प्रतीत होता है कि देवदत्त अपने उद्देश्य प्राप्ति में सफल रहा और वह कुछ अनुयायियों को लेकर बौद्ध संघ से अलग हो गया। स्थविरवादियों ने इस घटना को उसके [illegible] की [illegible] की घटना से जोड़ कर उसके सारे कार्यों को इसी विचार से प्रेरित सिद्ध करने के प्रयास में कुछ और भी बातें जोड़ दीं। उन्होंने सारी बातें इस प्रकार प्रस्तुत कीं कि देवदत्त एक कुत्सित चरित्र जान पड़े। आखिर उसने संघ संस्थापक भगवान् बुद्ध के साथ द्रोह किया था।

लखम सेन पद्मावती वीरकथा के प्रक्षेप

माता प्रसाद गुप्त

'लखम सेन पद्मावती वीरकथा' पुरानी राजस्थानी की एक महत्वपूर्ण कथाकृति है। यह सं० १५१६ में दाम या दामा नाम के कवि के द्वारा लिखी गई थी। इसकी कदाचित् एक ही प्रति अभी तक मिली है जिसकी दो प्रतिलिपियों के आधार पर रचना के दो पाठ प्रकाशित हुए हैं। एक तो श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा 'भारतीय साहित्य' अक्टूबर, १९५९ के अंक में है, और दूसरा श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी द्वारा पुस्तिका के रूप में प्रकाशित है। यह आधार-पाठ दोनों विद्वानों को श्री अगरचंद नाहटा से प्राप्त हुआ था। इस महत्वपूर्ण कृति को प्रकाश में लाने के लिए ये तीनों विद्वान् हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

एक प्रतिलिपि के आधार पर किया हुआ पाठ निर्धारण सामान्यतः उतना संतोषजनक नहीं होता है जितना एक से अधिक प्रतिलिपियों की सहायता से किया हुआ होता है, जब तक कि वह एक मात्र प्रति स्वयं कवि या लेखक की स्वहस्तलिखित प्रति या पूरी सावधानी और ईमानदारी से की हुई उसकी प्रतिलिपि न हो। जिस प्रतिलिपि से ये पाठ तैयार किये गए हैं, वह सं० १६६९ की है जब कि रचना सं० १५१६ की है, इसलिए इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि प्रतिलिपि कवि की स्वहस्तलिखित प्रति से की गई होगी। सामान्यतः एक प्रतिलिपि के आधार पर प्रक्षेप निर्धारण भी कठिन होता है, किन्तु कभी कभी एक प्रतिलिपि से भी वह पूर्णतः असंभव नहीं होता है, और इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण 'लखमसेन पद्मावती वीरकथा' की इस प्रतिलिपि से प्राप्त होता है। नीचे पाठ वृद्धि के १७ स्थल आवश्यक होने पर पूर्ववर्ती और परवर्ती पंक्तियों के साथ उद्धृत किए जा रहे हैं। जिन कारणों से इन्हें अलग-अलग प्रक्षिप्त माना गया है, उनका संक्षेप में उल्लेख किया गया है। आशा है कि सुधी पाठकों के लिए यह पर्याप्त होगा। उद्धरण श्री उदयशंकर शास्त्री द्वारा प्रकाशित पाठ के अनुसार हैं।

(१) जीव दया नहु पाली देव। सगुर साधु नहु कीधी सेव।
रयणी भोजन अण गळीया नीर। दीधी विधाता दुष सरीर ॥६१॥
कह मइं गोचर अडीया आप। कर मइं बंदीजन लीधा सराप।
कइ मइं सरवर फोडी पाळ। तो नीसरूं ज्यूँ जोगी आलि ॥६२॥

वस्तु। थवा अरवइ थवा अरवइ पुहवी मझारि।
रहीयो कोई न संचरइ।
ईणि देस सव जगुइ विरहवी।

सायर बंधाय राम भयउ।
रावण वंश जिणि सर्व निकंदयो।
जुधीष्ठर हरिचंद गयउ फरसराम संसार।
एता सब वहि लै गया हूँ कुण मात्र विचार ॥६१॥
गयउ नल तिजे दमयंत। गयउ दुरजोधन गरब करंत।
गयउ मान्धाता सगर गंगेव। गया पंच पंडव सहुदेव ॥६२॥
चला लक्ष्मी चला प्राणा चला यौवन जीवनम्।
चल चलेन संसारं धर्म एकोहि निश्चलम् ॥१॥
ईम च्यंतइ नर कुआ मांहि। हाहा ध्रिग रहइ नृप चाहि।
चूकी फाल सीह टलवलइ। तिम नरचं (नरचंद) टलवलइ ॥१॥

चउपही। मूंक सारिषो मूरख न वि भयो। आयुध एक न साथई लीयउ।
तेसुं कंठ छेदति आपणउ। तउ पण दुख न देखति घणउ ॥६२॥
फिरि फिरि जोवइ कूआ मझारि। नरवइ च्यंतइ मनइ मझारि।
छोह बंध कूआ मत क्षणां। हाथै ईंट लागा लक्षाणां ॥६३॥

इन पंक्तियों के प्रसंग में एक तो यह द्रष्टव्य है कि दो छंदों के साथ क्रमागत संख्याओं को छोड़कर ॥१॥ की संख्या दी हुई है, जिससे यह प्रकट है कि उक्त छंद बाद में मिलाये गये हैं। पुनः यह द्रष्टव्य है कि ॥६१॥, ॥६२॥ और ॥६३॥ की संख्याएँ क्रमशः दो, तीन और दो बार आई हैं, जो कि सभी की सभी मूलतः न रही होंगी। प्रश्न यह है कि इन अनेक ॥६१॥, ॥६२॥, और ॥६३॥ संख्याओं वाले छंदों में से कौन से मूल के हैं, और कौन से बाद के हैं। अंतिम ॥६२॥ और ॥६३॥ संख्याओं के छंद कथा प्रसंग से सन्निकट रूप से संबद्ध हैं, इसलिए वे मूल के ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार प्रथम ॥६१॥ की संख्या का छंद पूर्ववर्ती ॥५९॥ तथा ॥६०॥ के छंदों की उक्ति शृंखला में आता है, इसलिए मूल का लगता है। शेष समस्त छंदों में या तो कर्म-विषयक उस उक्ति शृंखला का अनावश्यक विस्तार मिलता है जो ॥५९॥, ॥६०॥ और प्रथम ॥६१॥ संख्याओं के छंदों में आती है, और या तो संसार की नश्वरता का कथन मिलता है। यह कहना अनावश्यक होगा कि इन छंदों के हट जाने पर भी पाठ के सहज प्रवाह को कोई क्षति नहीं पहुँचती है।

(२) पषि तीसरी गउ लीधी करी। चउथी लेकरि राखी धरी।
दीठी पहुवी मोग निहाल। लखमसेन घउ गयउ पयाल ॥६५॥

दूहा। साहस सत न छोडियइ जइ बहु संकट होइ।

पुण्य पसाई लखमसी गयौ पताळह जोई ॥३॥

तउ नरवइ चाल्यउ तिण वाल। कम्यौ रहाउ सरोवर पाळ।

चिहक बंध बंधाउ चिहुँ दिसा। चकवा चकवी रमइ सारिसा ॥६६॥

॥६५॥ और ॥६६॥ क्रम संख्याओं के बीच आने वाली ॥१॥ की संख्या स्वतंत्र है, यह प्रकट ही है, उसका छंद भी केवल उपदेश वाक्य के रूप में आता है जिसके हटा देने पर भी पाठ-प्रवाह अक्षुण्ण रहता है।

[३]···एक पाणी भ्भंतर रही कुंभ न भरयउ जाय।

एक भूली मुंह अति गई पुरष देखि नयणांय ॥७६॥

लखमसेन देखइ नृपति भूलीय नयण मयंद।

नयण नयण अंकुर परी असि बीय मत्त गयंद ॥१॥

सरस सकोमल कुच कठिण जघ अति लंक विसाल।

हंसा चंचल कनक खंभ चढी भुयंगा माल ॥२॥

खिण्यो वेस वीर परिहरइ। विप्र वेस तिहां नरवइ करई।

सरवर मेल्ह गयो ततक्षणा। तब लागो दह दिसि जो हणा ॥७७॥

॥७६॥ तथा ॥७७॥ के बीच में ॥१॥ और ॥२॥ की संख्याएँ स्पष्ट ही स्वतंत्र हैं ॥२॥ संख्या के छंद में "लंक" को "विसाल" कहा गया है, जो किसी असमर्थ कवि की ही उक्ति हो सकती है, और इन ॥१॥ और ॥२॥ संख्याओं के छंदों को हटा देने पर पाठ के प्रवाह में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती है।

[४] मृग नयणी गयवर गामिनी। मुनि मन हरै देखि कामिनी।

राज कुमार करइ गज कीस। चांक मुंहा तिहां मेल्हइ हीस ॥७९॥

गढ गढ मंदिर पोलि प्रगार। नयर बीस जोयण विस्तार।

करइ राज हंसराइ नरिंद। जाणे अमर पुर बीलसइ गोव्यंद ॥१॥

नाराच ॥ देखियो सरवर नयर नयणे चूकियो नृप चांहि।

ए नाहि सम पड़ि नहीं रवि तलि ए अमरपुर आहि ॥

• देखियइ सरोवर अति मनोहर तिहां हंस केलि करांई।

तिहां नगर नरपति आभे सुरपति सोहि ति सुरंग सुजाइ ॥

[दूहा] ॥ लखमसेन देखी नयण भूल्यौ मनह मझारि।

कवि दामो कीरति कहइ कथा विविध विस्तार ॥२॥

ईसउ नयर फिरि दीठउ घणउ। नाम न कहइ बीर आपणउ।

घर बंभण कह पहुंतो आइ। कहुण मास मो पाणी पाई ॥८०॥

क्रम-संख्याओं से यह प्रकट है कि ॥१॥ क्रम संख्या की चउपही, क्रम संख्याहीन नाराच और ॥२॥ क्रम-संख्या का दूहा पाठ के बाहर पड़ते हैं। इनमें ॥७९॥ तथा पूर्ववर्ती क्रम-संख्याओं के विषय का ही अनावश्यक विस्तार किया गया है, जिसके हटा देने पर भी पाठ-प्रवाह में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता है।

[५] जाता कुमरी निरखै देह। सोल कला आणु उपम रेह।

लखमणसेन चउ थउ दृष्ट चाहि। राजकुमरि बैठी रंग मांहि ॥९७॥

दिष्टइं दिष्ट मेलावउ भयउ। नयण कटाक्ष बाण उर हयो।

पुहतो बीर जाय मंदिरा। सुंदर धुकि पडी छइ धरा ॥९८॥

व्यापो विरह नयणा जल भरइ। आकुल व्याकुल काया करइ।

अगिन झाल सोहिली होई। विरह विथा नवि राखइ कोई ॥१॥

केसर हथल सोहिली खडगह धार सुहाई।

पणि सर्व अगनि ते सीयली बीरह न सईहण जाई ॥२॥

नयणां केरी प्रीतडी अइ करि जाणइ कोई।

के (जे) रस नयणा ऊपजइ ते रस अनी न होई ॥३॥

नयणा करै तो नेह करि नहिं तर नयण नीवारि।

सूका लाकड़ भमर जिम छेडि वे हम पाडि ॥४॥

लखमसेन मनि कीयउ वीचार। नयणा नयण मीलावी नारि।

नारी वरण कवि दामउ कहइ। सांभलि चतुर हीयै गहगहै ॥

वस्तु॥ हसइ बोलइ हसइ बोलइ क्रोध तजि दूरि।

स्यामो दरि सुंदरी।

सींह लंक सा हंस गमणी।

प्रेमरंग प्रेमावती।

सील सील सा चंद वयणी।

अति परमल तन उलसइ कस्तूरी कपूर।

सामी पदमणि जाणीयै दीप मुख जणि सूर ॥९८॥

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में यह द्रष्टव्य है कि ॥९८॥ की क्रम संख्या दो बार आई है। दूसरी ॥९८॥ संख्या के छंद में पद्मिनी के लक्षण दिए हुए हैं, इसी प्रकार बाद के तीन वस्तु छंदों

में क्रमशः 'चित्रणी', 'हस्तनी' और 'संखिनी' के लक्षण दिए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि दूसरी बार की ॥९८॥ संख्या का छंद मूल का है और प्रथम बार की ॥९८॥ की संख्या का छंद प्रक्षिप्त है, ॥१॥, ॥२॥, ॥३॥, ॥४॥ संख्याओं तथा उनके बाद का बिना संख्या का छंद क्रमागत संख्याओं के बाहर पड़ते हैं, और इन समस्त छंदों को हटा देने पर भी पाठ को कोई क्षति नहीं पहुँचता है।

[६] दूहा। पद्मनी पौहपरावंति चित्र राचंति चित्रणी।
हस्तनी नृत्य राचंति कलह राचंति संखिणी ॥१॥
पद्मनी पौ हर निद्रा च द्रिपौ हरा च चित्रणी।
हस्तिनी चमक निद्रा च अघोर निद्रा च संखिनी ॥२॥

ये दोनो छंद दूहे नहीं हैं, जैसे वे कहे गए हैं, ये ॥१०१॥ तथा ॥[१०]२॥ के बीच में आते हैं और इस प्रकार ग्रंथ की क्रमागत छंद संख्याओं के बाहर पड़ते हैं, इनमें पुनरुक्ति भी है ; चार प्रकार की स्त्रियों के लक्षण ही पुनः आते हैं, जो पूर्ववर्ती चार वस्तु छंदों में आ चुके हैं।

[७] एक नरवइ मंडप पहुंत। हय गय साहण सयल संजुत।
दह दिसि निवताया चिंतवइ। सयंवर कारणि आव्या सवइ ॥९॥
वाजइ गुहिर नीसांणइ जोडि। सुर देखै तेत्रीसइ कोडि।
सुकवि दामौ कहइ सचभाई। एक लक्ष कोड मील्या तिहां राइ ॥१॥
दूहा ॥ आडंबर रज उडीयण रवि तिहि पत्र पलास।
कहि केती उपमि कहुँ फूल्यउ सैंभि आकास ॥२॥
मेर महीधर कंपियो आदि कंपिउ फुण्यंद।
सुर नर असुर अकंपिया अरि कंपीयो सुयंद ॥३॥
चउपही ॥ हंस राय करि चिंघ आचार। भणइ चित्र मंडपइ मझारि।
लावण लाडू घृत कपूर। मन वंछित जीमइ भरपूर ॥१०॥

इस अंश में उद्धृत ॥१॥, ॥२॥ तथा ॥३॥ संख्याओं के छंदों की स्थिति भी लगभग उसी प्रकार की है जैसी ऊपर आए हुए [५] के प्रक्षिप्त छंदों की है।

[८] नयर लोक अचंभो थयो। भेद न जाणइ कोइ तसु तणउ।
और अथाई करउ सब आई। कनकावती चकावउ राय ॥२७॥
पुन्यवन्त नर तारइ तीरइ। पुण्य पसाई कीरति विस्तरइ ॥१॥

दामो कहइ करमपति कोई। मेटण हार न दीसइ कोई।
करम समो नही को बलवंत। हुओ कथा आगलि बोहुंत ॥२॥
कनकावती नयर छइ राय। नीरपाल तिहां नरवइ जाय।
दंड न दीयइ न मानइ सेव। ते ऊपरि सुलखण देव ॥२८॥

ऊपर उद्धृत ॥१॥ तथा ॥२॥ संख्याओं के छंद उपदेश वाक्यों मात्र के हैं, और इनकी भी स्थिति लगभग वही है जो ऊपर आए हुए [१] के छंदों की है।

[९] कवण राय खित्री बलवंड। तासु सुभत काटूं भय (भुय) डंड।
मारी मार जब रावत करइ। गईवर गुडइ तुरी पाखरइं ॥३३॥
सिंधु राग सोहामणउं स्वंधू मिलइ ससूर।
सिंधू सूरां बल (ल्ल) हो सिंधू कायर दूर ॥१॥
सूरा जे स्वंधू भरइ सिंधू राग सुणंत।
कायर काया कारणइ मला भूमि सिवंत ॥२॥
घुमघूमइ नद नीसाण घण चउसठि किलल करंत।
सूरा ते समरंगणि रहइं कायर ते भाजंति ॥३॥
चउपही ॥ उठइ खड्ग जोर की जाल। सिर तूटइ भर भरइ कपाल।
लखमसेन भड साहस धीर। हाकइ हणइ भिड़ै बरवीर ॥३४॥

॥३३॥ तथा ॥३४॥ क्रम संख्याओं के बीच में आए हुए ऊपर के ॥१॥ और ॥२॥ संख्याओं के छंदों की स्थिति लगभग वही है जो ऊपर [९] में आए हुए प्रक्षिप्त छंदों की है।

[१०] भिड़इ राय बहुल प्रचण्ड। लखमसेन तोलइ भुव डंड।
रगत धार नदी घण वहइ। लखमसेन रिण आंग भि रहइ ॥३५॥
तुटइ कमल धड ऊपरि पड़इ। मां हो मांहि सूर इम भिड़इ।
धड सुं धड जुडइ रिण जोर। हा हा सबद हुऔ जग सोर ॥१॥
रगत प्रवाह नदी अति वहइ। अश्व गज मछ कछ सम रहइ।
सुकवि दामो कहइ बखांण। हुऔ मकाहो भिघ मसाण ॥२॥
[illegible] निवराड कीउ संग्राम। [illegible] सुभट रिण रहिया ताम।
मारी कुंजर वर रहिया ठाई। लखमसेन जस लीधो [illegible] ॥३६॥

उद्धृत ॥१॥ तथा ॥२॥ में युद्ध-वर्णन का अनावश्यक विस्तार मात्र ही नहीं उनके एक चरण 'रगत प्रवाह नदी अति वहइ' में ॥३५॥ के तृतीय चरण की [illegible] पुनरावृत्ति भी है, और दोनों छंद क्रम संख्याओं के बाहर पड़ते ही हैं।

[११] बहु अंतेवर जसी वास। पद्मावती की पूरी आस।
कण (?) कंकण एकावलि हार। रापी आपइ राजकुमारि ॥४७॥
हथलेवउ छूटउ तिणि वार। जय मंगल नइ दांन अपार।
घरि घरि गुडी बंनरवाल। पद्मावती वरी लखम भूपाल ॥१॥
वाई पीवइ विलसइ संसारि। तिहां वास उ वैकुण्ठ मझारि।
एक झुरता चूकउ वातारि। देइ जण मिलीया एकइ तार ॥४८॥

छंद ॥१॥ में हथलेवा छूटने आदि का और घर घर गुडियों और बंनर वालों द्वारा उत्सव मनाए जाने का कथन विवाहोत्सव के प्रसंग में अतिरिक्त लगता है, छंद क्रमागत-छंद संख्याओं के बाहर पड़ता ही है।

[१२-१३] (१२) कथा सयंवर भयौ प्रमाण। जे नर सुणइ ते गंगा न्हाण।
सुकवि दामउ करइ वखाण। प्रथम खंड चढ्यउ प्रमाण ॥१५४॥
चतुर होइते मन गहगहइ। बाहुडि कथा चित्त दे रहइ।
मूरख ते जे हासौ करइ। पशु समान ते कलि वई फिरइ ॥१॥
प्रथम खण्ड कवि दामउ कहइ। सुणंत चतुर हीयइ सुख लहई।
दूजा खंड तणउ आरंभ। सुणइ बहु ते होई अचम्भ ॥२॥
इति पद्मावती कथा सयंवर खंड प्रथम समाप्त ॥
समरू वीर महरवाणंद। नव-निधि आपर गृह आणंद।
बीजउ खंड वीर रसभाउ। सिद्धि नाथ ते रच्यउ उपाउ ॥१॥

(१३) लखमसेन पद्मावती संयोग। अहनिस नव नव विलसइ भोग।
देखउ करम तणीए वात। सिद्धि नाथ तिहां खेलइ घात ॥२॥
करम नचावइ तिम नाचीवइ। करम आगलि कहो किम वांचियइ।
करमइ मार्‌यो जीव ते भमइ। करमइ काल अंतता गमइ ॥३॥
करम करै ते निहचइ होई। तेसुं स [र] मधि न करइ कोई।
लिख्या प्रमाण लखमोती राय। आगलि कथा अचंभम थाई ॥४॥
धरी ध्यान योगी चितवइ। एक निमष माहि कमन गवउ।
रुपनो झोष कोइ मन भयौ। झुपनइ जाई राय सुं कह्यउ ॥ [१] ५५॥

इन दो अंशों को एक साथ इस लिये लिया जा रहा है कि इनमें प्रक्षेप-कार्य साथ साथ

हुआ है। [१२] को प्रक्षेप किया स्पष्ट है, पूर्व के कथांश को प्रथम खंड कर दिया गया, और बाद में आने वाले कथांश को दूसरा खंड, और दूसरे खंड के आरम्भ की वंदना के रूप में 'भइरवानंद' का स्तवन एक छंद में कर दिया गया। रचना के आरम्भ में कवि ने स्वरस्वती और गणेश मात्र का ही स्तवन किया है, किसी सिद्ध या महात्मा का नहीं किया है। आगे भी रचना भर में कहीं पर यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती है। खंड २ का अंत और खंड ३ का प्रारंभ रचना में खोजने पर भी नहीं मिलता है अतः खंड १ की समाप्ति और खंड २ के आरम्भ विषय का अंश उपर्युक्त [१२] स्पष्ट ही प्रक्षिप्त है। उद्धृत प्रथम छंद के साथ दी हुई ॥१५४॥ की संख्या भी उसी प्रकार कल्पित लगती है, जिस प्रकार ॥१॥ और ॥२॥ की लगती हैं। संभवतः यह उस छंद की संख्या थी जिस पर अब ऊपर दूसरी ॥२॥ की संख्या पड़ी हुई है।

[१३] के छंदों में से ॥२॥ स्पष्ट ही प्रसंग का छंद है, और जैसा कहा जा चुका है, उस पर कदाचित् ॥१५४॥ की संख्या पहले रही होगी। ॥३॥ और ॥४॥ में केवल दूसरे ॥२॥ के उत्तरार्द्ध में प्रतिपादित कर्म के माहात्म्य का अनावश्यक विस्तार है।

[१४] वस्तु। दुख दारुण दुख दारुण धरइ मन मांह

छंडि ठाम बनवास चाल्यउ

राज रिद्धि सहु परिहरि।

दाह बइराग लागउ।

चइठ उतटि सायर तणइ

करइ कहर मन कर्मंत भागउ।

सब माणपण दुख घटिउ देखो सुर नर कोई।

दैव सहाय सउ सहै करता करइ स होई ॥७९॥

बाल्ये माय मरणं भार्या मरणं यौवना काले।

वृद्धस्य पुत्र मरणं तिनं दुखाई गिरु आइ ॥१॥

अमवा वियोग समये काले संहार फुटिही पांई।

पाहुण समान भविय आजविरंम न लोहाई ॥२॥

रे हीआ पापी सिहुण किम करि दुख सहंत।

जीव वियोग कुमइ मरण फटे वह विस अंत ॥३॥

बन बन राय भमंतउ फीरइ। पदमावती बयण संभरइ।

हा प्रिय प्रिय कहइ संसार। न पीयइ नीर न लीयइ आहार ॥४॥

इण विधि लखमसेन दुख सहइ। आगलि कथा कवि दामउ कहइ।
सुण ज्यो सहु हियै धर ध्यान। सांभलतां घरि होइ कल्याण ॥५॥

चउपही ॥ तीन भुवन माहि जो युं चालि। आवागमण हुँतउ तिणि कालि।
पहिर पउमती उपमइ राय। सायर तटई पहुंतउ जाय ॥८०॥

॥७९॥ और ॥८०॥ के बीच के ॥१॥ से ॥५॥ क्रम संख्याओं के छंद स्पष्ट ही रचना के छंदों की क्रमागत संख्या के बाहर पड़ते हैं, इनमें ॥७९॥ में उल्लिखित राजा के दुखों का सूक्ति-प्रमुख वर्णन विस्तारमात्र है।

[१५] परहर पोमती लखम नरचंद (नरेंद)। आइ पंहुतो तीर समंद।
जोवइ बाल नइ लाभय ठाय। बइठ उनींदं तिहां च्यंतइ राय ॥१॥

स्वतंत्र ॥१॥ की संख्या का यह छंद क्रमागत ॥८१॥ तथा ॥८२॥ के बीच में पड़ता है और इसमें ऊपर उद्धृत छंद ॥८०॥ का उत्तरार्द्ध लगभग उसी के शब्दों में दुहराया हुआ है।

[१६] पर दुखइ ते दुखीया पर सुख हरख करंत।
पर कज्जइ सूरा सुहड़ ते विरला नर हुंत ॥१॥
पर दुखइ सुख ऊपजइ पर सुख दुख धरंत।
पर काजइ कायर पुरष घरि घरि बार फिरंत ॥२॥
सीह सीचाणौ सापुरिस पड़ि पड़ि उठंति।
गय चक्कर कुंभ कापुरिस पड़े न वलि उठंति ॥३॥

ये तीन स्वतंत्र संख्याओं के छंद ॥९६॥ तथा ॥९७॥ के बीच आते हैं और स्पष्ट ही ये सूक्ति प्रकृति के हैं। इनकी स्थिति लगभग वही है जो ऊपर आए हुए [९] के प्रक्षिप्त छंदों की है।

[१७] तीजउ खंड चढ्यउ परमाण। चौथउ खंड सुणउ चतुर सुजाण।
खंड खंड नव नवो वीचार। सांभलतां हुई हरख अपार ॥१॥

स्वतंत्र क्रमसंख्या का यह छंद ॥[२]२१॥ और ॥[२]२२॥ के बीच में पड़ता है, यह प्रसंग निरपेक्ष भी है और केवल रचना के खंड-विभाजन के लिए लाया गया है।

इन अंशों के सम्बन्ध में अन्य बातों के साथ-साथ यह दर्शनीय है कि इनमें से कुछ के द्वारा रचना को एक खंड-बद्ध काव्य का रूप देने का भी प्रयास किया गया है, जो वह पहले से नहीं था, किन्तु यह किया गया है शेष छंद की क्रमागत संख्याओं को प्रायः बिना छुए हुए। श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने रचना का जो पाठ प्रकाशित किया है, उसमें एक तो खंड विभाजन के अनुसार छंदों की क्रमसंख्यायें स्वतंत्र कर दी हैं और जो स्वतंत्र छंद संख्याएँ उपर्युक्त छंदों की आई हैं उनके स्थान पर भी क्रमबद्ध संख्याएँ दे दी हैं, जिससे प्रक्षेप-क्रिया के समस्त चिह्न समाप्त हो गए हैं। संतोष है कि शास्त्री जी ने रचना का पाठ देते हुए इस प्रकार का संशोधन नहीं किया। किन्तु आश्चर्य यह है कि दोनों विद्वानों का ध्यान रचना के पाठ के इन प्रक्षेपों की ओर नहीं गया। श्री अगरचंद नाहटा का न गया हो तो आश्चर्य न होगा।

ग्रंथ समीक्षा

हरिशतक—श्री भर्तृहरिशतकम् का काव्यात्मक हिन्दी रूपान्तर मूल सहित। रूपान्तरकार श्रीगोपालदास गुप्त, आनन्द प्रकाशन, सौम्य-कुटीर, शक्तिनगर, दिल्ली—७ ; जुलाई १९६७, प्रथम संस्करण, पृ० १९१, मूल्य ५)००

संस्कृत और हिन्दी साहित्य के "संपद्विनिमय" के इस युग में, श्रीगोपाल दास गुप्त की पद्यात्मक कृति "हरिशतक" निश्चय ही उन लोगों के लिये एक आश्वासन है, जो भर्तृहरि के मूल श्लोकों का (संस्कृत का सही आनन्द) हिन्दी में लेना चाहते हैं।

श्री गोपाल दास ने पुस्तक के नामकरण में भी सावधानी बरती है। यों तो भर्तृहरि की तीनों रचनायें, पृथक् पृथक् व समन्वित रूप से, कई नामों से प्रसिद्ध हैं, परन्तु अन्य प्रसिद्ध नामों की अपेक्षा "हरिशतक" नाम अधिक परिमार्जित व उपयुक्त प्रतीत होता है।

"हरिशतक" को काव्यात्मक रूपान्तर न कहकर, पद्यात्मक रूपान्तर कहना अधिक उचित जान पड़ता है। हरिशतक का पद्यान्तरकार संभवतः 'अपनी बात' में उस संस्कृत संस्करण का उल्लेख करना उचित नहीं समझता, जिसके सहारे उसने भर्तृहरि की सुभाषित त्रिशती के श्लोकों की छाया हिन्दी में देखी? हो सकता है सद्गुरु के श्रीमुख से बाहर निकले श्लोकों को ही उसने प्रमाण मान लिया हो! वस्तुतः भर्तृहरि के तीनों शतकों के श्लोकों में पाठ भेद और क्रम भेद दोनों ही लक्षित होते हैं। उदाहरण स्वरूप, भारतीय विद्याभवन मुंबई (बंबई) से १९४६ में प्रकाशित भर्तृहरि के "शतकत्रयम्" में "दिक्कालाद्यनवच्छिन्न" प्रभृति मंगल श्लोक के बाद ही "बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः" इत्यादि श्लोक मिलते हैं, जब कि प्रस्तुत अनुवाद में, इसी श्लोक को वैराग्य शतक में दूसरे श्लोक का स्थान दिया गया है।

'विद्वत्प्रशंसा' (६।९ श्लोक १४) शीर्षक के अन्तर्गत "वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह" प्रभृति श्लोक न तो विद्याभवन वाले संस्करण में और न निर्णय सागर प्रेस वाले संस्करण में ही उपलब्ध है। इसी प्रकार अनुवादक ने जिस "बाहुस्तस्य जलायते" इत्यादि श्लोकों को प्रक्षिप्त श्लोक कहा है, वही श्लोक, उपर्युक्त संस्करणों के शेषपद्धति में सूचित हैं। आश्रित संस्करण के उल्लेख से, पाठक व्यर्थ ऊहापोह से बच जाते। अनावश्यक सम्मतियों के बोझ से पुस्तक का कलेवर बढ़ा न कर, उसके स्थान पर अकारादि क्रम से श्लोकों की सूची अधिक उपयोगी सिद्ध होती।

अनुवाद की शैली सजीव होते हुए भी "अन्वयमूल विशेषकः टीका" वाली उक्ति चरितार्थ बैठती है। ऐसा जान पड़ता है मानो भर्तृहरि, अनुवादक के शब्द जाल से दुर्बोध हो गये हों। शृंगार शतक के श्लोक—"भ्रू चातुर्यात्कुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः" का रूपान्तर, "कुंचित नयन कटाक्ष विलास", "स्निग्ध सुरत स्वेदोद्गारा" का रूपान्तर "रतिश्रमस्वेद सलिल" "मधुकर कुसुम केसर" आदि का रूपान्तर "आम्र कुसुम केसर समूह" और "मधु मधु मत्त मधुप", "किंचिद् मधुलिहलोः" ; इत्यादि श्लोकों के अन्तिम चरणों का रूपान्तर "अविरल प्रदीप लालस युक्त"

न पीनपयोधरभारखिन्न" विशेष रूप से अवबोध्य हैं जो पूर्व उक्ति का समर्थन करते हैं। इस प्रकार के विकट, समस्त वाक्यावलियों से बहुत से अनुवाद अरुचिपूर्ण हो गये हैं।

कहीं कहीं अनावश्यक तुक बैठाने की चेष्टा भी दिखती है। नीति शतक के श्लोक "वाचो हि सत्यं परमम्" में, दिव्य और भव्य की कल्पना भर्तृहरि कर्तृक नहीं कही जा सकती। परन्तु अनुवादक ने अनावश्यक रूप से इस विचारे को दिव्य और भव्य के बीच जकड़ दिया है :—

> "सत भाषण ही नरवाणी का है सर्वोत्तम भूषण दिव्य"
> सुन्दरियों का आभूषण है उनके कटि की कृशता भव्य"

नीतिशतक के ही "जयन्ति ते सुकृतिनः" इत्यादि श्लोकों के अनुवाद में "धन्य" का तुक बैठाने के लिये "प्रजन्य" का होना आवश्यक हो गया है, अन्यथा प्रजन्य जैसे अप्रसिद्ध शब्द की यहाँ गुजर नहीं थी। अनुवाद में अथ से लेकर इति तक, भव्य, दिव्य, मित्र, विचित्र, अहो, तात प्रभृति शब्द इतनी बेरहमी से जोड़ दिये गये हैं कि उन्हें आत्मसात् करना कठिन जान पड़ता है। वैराग्य शतक के १०वें श्लोक, "यत्रानेकः' के अनुवाद में प्रयुक्त "अभंग" शब्द अप्रसिद्ध है। इसीलिये उसका अर्थ बतलाने के लिये टिप्पणी में "निरन्तर" लिखना पड़ा। इसी प्रकार वैराग्यशतक के ही १२६वें श्लोक "परिभ्रमसि किं वृथा" इत्यादि के अनुवाद में "अकल्प" शब्द भी ऐसा ही जान पड़ता है।

मूलच्युति दोष भी अनेक स्थलों में देखा जा सकता है।

"असूचीसञ्चारे" (शृंगारशतक श्लोक ४५) का अनुवाद "सूचीभेद्य" घनान्धकार किया गया है जो सर्वथा अनुचित है। टीकाकार रामचन्द्र बुधेन्द्र ने "न विद्यते सूचीसञ्चारो यस्मिंस्तस्मिन् सूच्यग्रमात्रस्याप्यनवकाशप्रदे" ऐसा अर्थ किया है, जिसका अभिप्राय उस घने अन्धकार से है, जिसमें सुई तक का प्रवेश नहीं हो सकता।

क्या ही अच्छा होता यदि अनुवादक, पूर्वोपलब्ध इस टीका-साहित्य का भरपूर उपयोग करके अनुवाद आरंभ करता।

शृंगार-शतक के ही श्लोक ४६ का यह अनुवाद भी "अतिवर्षा के कारण घर से प्रिया न जाती बाहर भीत" मूलच्युत है। मूल में 'प्रियतम' शब्द है न कि प्रिया। "प्रियतमै" शब्द का अर्थ रामचन्द्र ने 'प्रियतमैर्वल्लभैः" किया है, जिसका अभिप्राय "अत्यन्त प्रिय पुरुष" से है न कि प्रियतमा या प्रिया से। इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति "शीतोत्कम्पनिमित्तमा-यतदृशा गाढं समालिङ्ग्यते' से यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि प्रियतमायें वल्लभों को आलिंगन में जकड़े हैं, इसी से प्रियतम लोग बाहर नहीं जा सकते।

५० वें श्लोक (शृंगारशतक) के "शैशिर मरुत्" को, अनुवाद में शिशिर ऋतु बना दिया गया है।

६५ वें श्लोक (शृंगारशतक) के वातानुपर्णाशनाः" को "जल पर्णाहार" कर दिया गया है। भर्तृहरि प्रयुक्त "वात" शब्द का तिरस्कार कर दिया गया है। इसी प्रकार

और पत्तों के आहार में वायु की विशेषता अधिक है। "वायुभक्ष" और "अम्बुभक्ष" ऋषियों के इतिहास में हवा पीकर जीवन यापन करना, अपनी प्रमुख विशेषता रखता है। हमारे विचार से छन्दोनियमन इस प्रकार होना चाहिये था, जिससे कि मूल का परित्याग न होता।

वैराग्यशतक के ६१ वें श्लोक में, 'मित्र' शब्द साशय है, जो कि अनुवाद में परित्यक्त है। इसी प्रकार वैराग्यशतक के ही ५४ वें श्लोक में पठित "करं कदर्थयसि" का अनुवाद न कर, व्यर्थता की आपत्ति मनुष्य के मत्थे मढ़ दी गई है।

भाषा सम्बन्धी अशुद्धि तथा शब्दों को तोड़ मरोड़ देने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। उदाहरण स्वरूप—प्रियवादिनि (पृ० २५—अनु० ४७) सौदामिनि (पृ०८९—अनु० ४५) नारि (पृ० १५५—अनु० ९८) (१८३—अनु० १२५), मुनिमार (१८१—अनु० १२१) उत्पल लोचनि (पृ० १०३—अनु० ७२), नितंबिनि (पृ० १०३ अनु०—७५) इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं, और ऐसे प्रयोगों की भरमार है।

"वह्निस्तस्य जलायते" के अनुवाद में पृष्ठ ५७ पर—"पावक जल समान हो जाती" प्रयोग अशुद्ध है। पावक शब्द पुंलिंग है जिस पर आग के लिंग का प्रभाव नहीं हो सकता।

दुर्गन्धयुक्त के लिये "युक्त दुर्गन्ध" (पृ० ७ अनु० ९)" "इन कलाओं में कुशल प्राणी ही" की अभिव्यक्ति के लिये "कुशल कलाओं में इन प्राणी ही" (पृ० १३—अनु० २२) जैसे वाक्यविन्यास, अनुवादक की भाषादुर्बलता सूचित करते हैं। अपरिपक्वता के ऐसे ही अगणित उदाहरणों से पूरी पुस्तक भरी पड़ी है।

"अरु" और 'पुनि' जैसे संयोजक शब्दों की तो छीछालेदर है, जो बहुत अखरता है। हाँ, यदि हम हिन्दी के आधुनिक नवनवोन्मेषशालीरूप को भुलाकर, अवधी या ब्रजभाषा के सुदूर सवैया या कवित्त युग में चले जायें तो संभवतः ऐसे प्रयोगों का औचित्य ठहराया जा सकता है। श्री गोपाल दास ने, भविष्य में भी कुछ काम करने की प्रतिज्ञा की है, जो हिन्दी साहित्य के लिये गौरव की बात है, इसलिये उन्हें उपरिचर्चित विषयों की ओर ध्यान देना होगा।

हम उनके सत्प्रयत्न का, तथा उनकी रचना "हरिशतक" का शतशः अभिनन्दन करते हैं।

—मञ्जुल मयङ्क पन्तुक

जीवन का अर्थ : स्वार्थ—लेखक—मंगलानंद सिंह ; प्रकाशक सदानन्द सिंह, सखा-सदन, मकन्दपुर, नाथनगर, भागलपुर, १९६६ ; पृष्ठ ४४८ ; मूल्य १२/५०

'जीवन का अर्थ : स्वार्थ' नामक ग्रंथ में लेखक ने मानवीय प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस कृति में लेखक ने समस्त मानवीय प्रवृत्तियों को स्वार्थपरक सिद्ध किया है। स्वार्थ के कारण ही मनुष्य सारे कर्म करता है। यदि मानवीय क्रियाओं

का मनोवैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाय तो वह स्पष्ट हो जायगा कि उसके मूल में स्वार्थ ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में निहित है। लेखक ने इस कृति में धार्मिक कृत्यों को भी स्वार्थपरक बतलाया है। इस प्रकार की मान्यताओं से संभवतः सभी लोग लेखक के विचारों से सहमत न भी हों तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य या भक्त धार्मिक कृत्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु ही करता है, चाहे वह मुक्ति विषयक हो अथवा अन्य किसी फल-प्राप्ति के हेतु, सभी में स्वार्थ निहित रहता है। इस आधार पर लेखक की मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ ठीक हैं।

ग्रंथ को अद्योपांत पढ़ जाने पर लगता है जिस प्रकार फ्रायड ने सभी क्रियाओं में काम-वासना के दर्शन किए हैं तथा उसी पृष्ठभूमि में उसकी व्याख्या भी प्रस्तुत की है ठीक उसी प्रकार मंगलानंद जी ने मानवीय क्रियाओं की व्याख्या स्वार्थ की पृष्ठभूमि में की है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक विचारों की स्थापना के लिये प्रेरणा लेखक को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ग्रंथों से ही प्राप्त हुई है तथापि रचना-शैली तथा अभिव्यक्ति पूर्णरूप से भारतीय है। इसलिए कृति पर किसी प्रकार का शैलीगत या अभिव्यक्तिगत पाश्चात्य प्रभाव नहीं देखा जाता। लेखक ने सर्वत्र अपने भावों तथा विचारों को स्पष्ट करने के लिए भारतीय उदाहरण (विशेषरूप से हमारे दैनिक जीवन से संबंधित) चुने हैं, इसलिए ग्रंथ दुरूहता से बच गया है।

सम्पूर्ण ग्रंथ सात अध्यायों में समाप्त हुआ है। प्रथम अध्याय में 'मानस की पृष्ठभूमि तथा उसकी प्रवृत्तियाँ' शीर्षक से जीवन के अर्थ स्वार्थ तथा उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय 'स्वार्थ के तात्त्विक रूप' में स्वार्थ के भेदोपभेद पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय में वैयक्तिक स्वार्थ के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मानवीय कर्म, विकर्म, अकर्म, सुकर्म, दुष्कर्म का तात्त्विक विश्लेषण तथा निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में समाज और संस्थाओं को पृष्ठभूमि में रख कर उसकी सभ्यता और संस्कृति की प्रामाणिकता का विवेचन अपने विषय की पुष्टि के लिए किया गया है। पाँचवें अध्याय में राज्य के स्वार्थ तथा उसकी वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। छठे अध्याय में लेखक ने शाश्वत तत्त्व, व्यक्तित्व, और उनकी प्रवृत्तियों का विवेचन करते समय ज्ञान, साहित्य, दर्शन धर्म, वासना, रति, प्रेम आदि मानवीय प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इस अध्याय में लेखक ने फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। अपने विवेचन को पुष्ट और प्रामाणिक बनाने के लिए लेखक ने जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' और 'सुनीता' उपन्यासों को भी विषय-विवेचन में लिया है। (देखिए पृ० ३९५-४२३) इस प्रकार लेखक ने इन साहित्यिक कृतियों में वासना का ही स्वर मुख्य रूप से पाया है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक विवेचन विचारपूर्ण हैं। कृति में यह अध्याय अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अंतिम अध्याय में लेखक ने स्वार्थ के स्वरूप तथा उसके समष्टिगत प्रतिफलन पर विचार किया है। लेखक का विचार है कि वस्तुतः स्वार्थ की अच्छाई बुराई का जो असल कारण है, वह स्वयं स्वार्थगत नहीं है। वह नैमित्तिक और अहंकारात्मक है। (पृ० ४२८); 'मंगलानंद की इस जीवन व्याख्या के दो आधारभूत प्रधान पक्ष हैं—जीवन निर्वाह एवं कर्तव्य' (पृ० ४२९)। इस प्रकार की कुछ मूलभूत बातें लेखक ने इस अध्याय में कही हैं।

पुस्तक के आरंभ में प्रकाशकीय, क्रान्त-दर्शन तथा भूमिका भी है। क्रान्त-दर्शन में लेखक ने अपने विचारों तथा विषय वस्तु को स्पष्ट कर दिया है ; विशेष रूप से 'अर्थ' शब्द का। भूमिका में श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने पुस्तक के संबंध में लिखा है 'लेखक की यह स्थापना भारतीय चिंतन के अनुसार अवश्य ही प्रश्नवाचक एवं आश्चर्यचकित है, फिर भी यह स्थापना बड़ी सशक्त तथा बहुविध विचारणीय है।' जो भी हो, प्रश्नवाचक चिह्न के बावजूद भी हिन्दी में यह अपने ढंग की अकेली पुस्तक है। ग्रंथकार ने इसे पूर्ण भारतीय बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। लेखक के विचारों और मान्यताओं से सभी लोग सहमत नहीं भी हो सकते हैं फिर भी ग्रंथ पठनीय है।

ग्रंथ में मुद्रण संबंधी अक्षम्य त्रुटियाँ रह गई हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर ८-१० त्रुटियाँ प्रायः मिलती हैं। इसलिए पाठकों को असुविधा होगी। इस प्रकार की मुद्रण संबंधी त्रुटियों से मुक्त होना आजकल परमावश्यक है। कहीं-कहीं वाक्य भी अशुद्ध छपे हैं—'इन सारे के विभिन्न प्रसंगों में हमारे...' पृ० ८ ; 'उसकी उदर रिक्त है' पृ० १० ; 'फिर ये उपकरण केवल चाह मात्र से नहीं प्राप्त हो जा सकते हैं। (पृ० ७१) आदि। छपाई बहुत अच्छी नहीं है। कागज भी अच्छा नहीं लगाया गया है। मुद्रण, जिल्द बंधाई आदि की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक है।

साहित्य समीक्षा—मूल्यांकन और शोध—सं० डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल तथा श्री जशभाई का० पटेल—प्रकाशक—सरदार पटेल युनिवर्सिटी, वल्लभ विद्यानगर, पृ० २०१ ; १५ अगस्त, १९६७ ; मूल्य रु० ८-५० पैसे।

आलोच्य कृति में शोध गोष्ठियों में पठित हिन्दी के नौ, गुजराती के छः तथा अंग्रेजी के तीन निबंधों का संग्रह है। डा० नगेन्द्र ने 'काव्य बिम्ब और काव्य-मूल्य' में बिम्ब-प्रयोग तथा काव्य मूल्य के तारतम्य का निर्णय करते हुए कहा है कि काव्य का अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम बिम्ब है इसीलिए काव्य के संदर्भ में उसका मूल्य असंदिग्ध है। 'बिम्ब रचना की प्रक्रिया' में अनुभूति, अनुभव की पृष्ठभूमि में बिम्ब रचना की प्रक्रिया पर विचार किया है। डा० नगेन्द्र ने इसके प्रथम चरण को अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण कहा है। इसके बाद क्रम में साधारणीकरण तथा अभिव्यक्ति को स्थान दिया है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने 'हिन्दी-समीक्षा के परिवर्तित प्रतिमान' में हिन्दी गद्य-लेखन की विगत दशाब्द में हुई रचनात्मक उपलब्धियों का वर्णन किया गया है। लेखक ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिये रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना परम्परा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखा है। गद्य-लेखन में नये प्रतिमानों के स्थापित होने में डा० स्नातक को संदेह है तथापि

कालान्तर में इनकी संभावनाओं पर उन्होंने आशा व्यक्त की है। 'भक्ति-काव्य के अध्ययन की कुछ समस्याएँ' में डा० विजयेन्द्र ने भक्तिकालीन चार पक्षों पर प्रकाश डाला है। 'राजस्थानी साहित्य में पाठ-शोध की समस्याएँ' में पं० बदरी प्रसाद साकरिया ने शोध-विषयक, एवं पाठ संबंधी कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख करते हुए हस्तलिखित प्रतियों के संबंध में अपने मत व्यक्त किए हैं।

पं० केशवराम का० शास्त्री ने 'गुजराती में भक्ति काव्य का विकास' में गुजराती साहित्य के भक्तिकाल पर तथा तत्कालीन भक्त कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० रणधीर उपाध्याय ने 'हिन्दी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया है। डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच' पर अच्छा प्रकाश डाला है।

गुजराती में लिखित 'भारतीय काव्य विचार' में प्रा० नवीनदास पारेख ने भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा पर प्रकाश डाला है। उन्होंने भामह, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, दण्डी काव्यशास्त्रियों के काव्य सिद्धान्तों पर समुचित प्रकाश डाला है। 'साहित्य नी श्राव्य अभिव्यक्ति' में प्रि० हसित ह० बूच ने प्राचीन तथा आधुनिक श्रव्य काव्य के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। डा० हरिवल्लभ भायाणी ने 'शैली विज्ञान अने भाषा विज्ञान' में शैली विज्ञान का अच्छा विवेचन किया है। 'नवी गुजराती कविता : तेनी शक्ति अने सीमा' में प्रा० रामप्रसाद बक्षी ने गुजराती की नई कविता की शक्ति और सीमाओं का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'शोध अने संस्कृति' में डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा ने संस्कृत-प्राकृत ग्रंन्थों का विवेचन करते हुए शोध और संस्कृति के अध्ययन के लिए तुलनात्मक अध्ययन को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। 'टूंकी वार्ता' डा० सुरेश जोषी का लेख विचारात्मक दृष्टि से लिखा गया है।

अंग्रेजी के तीन लेखों 'द कन्सेप्ट अफ वैल्यू', 'आर्ट एण्ड वैल्यू' तथा 'न्यू क्रिटिसिज्म' में क्रमशः प्रो० जवडेकर, प्रो० देवकुळे तथा प्रो० कण्टक ने अपने-अपने विषय को विवेचनात्मक ढंग से रखा है। 'न्यू क्रिटिसिज्म' में प्रो० कण्टक ने अत्याधुनिक विचारों को मान्यता देते हुए अपने विषय को पूर्ण विवेचनात्मक बनाया है।

ग्रंथ में तीनों भाषाओं के विद्वानों के लेखों का संग्रह ज्ञानार्जन में नई दिशा प्रदान करता है। यह ग्रंथ स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों तथा शोध-छात्रों के लिए उपयोगी है।

ग्रंथ के अंत में लेखकों के संबंध में प्रशस्तिपूर्ण परिचय लिखा गया है उससे पुस्तक का महत्त्व नहीं बढ़ता बल्कि हास्यास्पद लगता है क्योंकि जिन विद्वानों के लेख इसमें संगृहीत हैं उनके महत्त्व तथा उनकी कृतियों से विद्वज्जगत् सुपरिचित है। इस प्रकार की प्रशस्तियों के बदले संपादकगण यदि भूमिका में कुछ मौलिक विचार देते तो कृति के महत्त्व में वृद्धि हो जाती।

पुस्तक में मुद्रण संबंधी सतर्कता बरती गई है। छपाई साफ-सुथरी है। आकार प्रकार की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य अधिक है।

—शिवनाथ यादव

स्मृति में

स्व० डा० विश्वनाथ प्रसाद

गत ९ नवंबर को हिंदी साहित्य और भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् डा० विश्वनाथ प्रसाद का धनबाद में निधन हो गया। उनके आकस्मिक निधन से हिन्दी की बड़ी भारी क्षति हुई है। वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली आयोग के अध्यक्ष के रूप में वे अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। राष्ट्रीय महत्व के इस कार्य को वे काफी आगे बढ़ा चुके थे। डा० प्रसाद हिंदी, संस्कृत और भाषाविज्ञान के गंभीर अध्येता और विद्वान् थे। लंदन विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध भाषातत्त्ववेत्ता प्रो० जे० आर० फर्थ के निर्देशन में भोजपुरी ध्वनियों पर कार्य किया था और सन् १९५० में उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की थी। एक ओर वे प्राच्यविद्या पद्धति से परिचित साहित्याचार्य थे तो उसके साथ पाश्चात्य शोध की वैज्ञानिक शैली से भी पूर्ण परिचित थे। कई संस्थाओं को उन्होंने संगठित किया तथा उन्हें व्यवस्थित रूप दिया। पटना विश्वविद्यालय में वे हिंदी विभाग के अध्यक्ष हुए। १९५५ से ५७ तक पूना के डेक्कन कालेज में भाषाविज्ञान के प्रोफेसर पद पर कार्य किया। १९५७ में वे आगरा विश्वविद्यालय के अंतर्गत संगठित कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के प्रथम निर्देशक नियुक्त हुए। यहाँ उन्हें अपने मन के अनुकूल भाषाविज्ञान विषयक संस्था को संगठित करने का पूरा अवसर मिला। प्रायोगिक भाषाशास्त्र के अध्ययन से संबंधित यंत्रों से उन्होंने इस विद्यापीठ को सुसज्जित किया। भाषाशास्त्र से संबंधित ग्रंथों का अच्छा पुस्तकालय बनाया। हिंदी प्रदेश का दुर्भाग्य है कि एक और बड़ा काम संभालने के लिए उस संस्था को छोड़कर वे दिल्ली चले गए। यदि वे आगरा की भाषाविज्ञान विद्यापीठ में कार्य करते रहते तो उत्तरी भारत में प्रायोगिक भाषाविज्ञान के अध्ययन का एक अच्छा केंद्र तथा अध्ययन की अच्छी परंपरा बना जाते। १९६१ में वे केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निदेशक हुए और उसके साथ ही कुछ समय बाद स्थापित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग के सदस्य-सचिव नियुक्त हुए। १९६५ में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के लिए स्थायी आयोग अलग स्वतंत्र संस्था के रूप में गठित हुआ तो डा० प्रसाद उसके उपाध्यक्ष नियुक्त हुए और सितंबर १९६६ में वे उसके अध्यक्ष नियुक्त किए गए। उन्होंने बड़ी योग्यता से आयोग को गठित किया। उनकी देखरेख में थोड़े ही समय में आयोग ने स्थायी महत्व का कार्य किया है। विज्ञान की अनेक शाखाओं के पारिभाषिक शब्दों का हिंदी में निर्माण तथा अनेक प्रामाणिक ग्रंथों के हिंदी में प्रणयन द्वारा विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से देने के कार्य को आगे बढ़ाया है।

डा० प्रसाद ने स्वतंत्ररूप में तथा संस्थाओं के माध्यम से अनेक ग्रंथों की रचना की है। आगरा भाषाविज्ञान विद्यापीठ से निकलने वाली पत्रिका में अनेक अलभ्य रचनाओं को प्रकाशित कराया। मगही संस्कार गीत, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ मानभूम उनकी महत्वपूर्ण कृतियों में से हैं। भोजपुरी ध्वनियों के भाषाशास्त्रीय अध्ययन को वे प्रकाशित करना चाहते थे; किन्तु पिछले कई वर्षों से प्रशासनिक तथा व्यवस्था विषयक कार्यों में इतने व्यस्त रहे कि अपनी कृति को वे

अंतिम रूप देकर प्रकाशित न कर सके। भाषाओं तथा बोलियों का अध्ययन करनेवालों के लिए यह ग्रंथ आदर्श का काम करेगा अतः किसी विद्वत्संस्था को उसका प्रकाशन करना चाहिए।

डा० प्रबाद् कुशल अध्यापक और सहज तथा मिलनसार स्वभाव के व्यक्ति थे। अनेक समितियों में उनके साथ कार्य करने का अवसर इन पंक्तियों के लेखक को मिला था। अपने मत को बिना किसी आग्रह के वे व्यक्त करते थे और भाषा और साहित्य के क्षेत्र में काम करने वाले परिचित तथा अपरिचित सभी को प्रोत्साहित करते थे। जो कोई उनके पास जाता उसे उनका अकृत्रिम स्नेह मिलता। उनके असामयिक निधन से बहुत बड़ी क्षति हुई है।

ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे। उनके शोक संतप्त परिवार के साथ हमारी हार्दिक सहानुभूति।

रामसिंह तोमर